प्रथम सम्करण, १९५३

प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद।
मुद्रक—सदलराम जायसवाल, राम प्रिंटिंग प्रेस, इलाहाबाद।

भूमिका

हिन्दी साहित्य की परम्परा मूलतः एक जनवादी परम्परा रही है। हिन्दी के साहित्यकारों ने पूर्वकाल से ही भारतीय जनता की भावनाओं को अपने साहित्य में व्यक्त किया है, उसके दुःख-सुख के गीत गाये हैं और लोक-कल्याण के आदर्श को सदैव ही अपने सामने रक्खा है। हिन्दी के भक्त-कवि इसी श्रेणी में आते हैं। भारत के लम्बे सामन्ती युग में ऐसे क्षण भी आये हैं, जब कि जीवन के ठहरे पानी में ही साहित्य प्रतिबिम्बित हुआ है। रीति-काल का साहित्य ऐसा ही साहित्य था। हिन्दी का आधुनिक साहित्य भारत के नव-जागरण का साहित्य है और प्रेमचन्द कथाकार उसके उज्ज्वल प्रतीक हैं।

इस लम्बी जनवादी परम्परा का विश्लेषण लेखक ने इन निबन्धों में किया है। यही सूत्र इन निबन्धों को एक साथ गूँथता है।

प्रकाशचन्द्र गुप्त

विषय-सूची

विषय

'क्लासिक्स' की परिभाषा

' क्लासिक्स'' के अन्तर्गत हम अतीत के उस समस्त साहित्य और कला ा रखते हैं, जिसका महत्त्व समय की गति के साथ स्वीकृत हो चुका है। '' क्लासिक्स'' का महत्त्व भी एक समान नहीं होता। 'क्लासिक्स' के अन्त- 'त होमर, शेक्सपियर और मिल्टन की गणना होती है, और पोप और ाइडन की भी, बाल्मीकि, कालिदास, तुलसी और सूर की, और बिहारी, ाझाकर, तोप, बेनीप्रवीन आदि की भी।

हम सामान्य रूप से कह सकते हैं कि इन सभी साहित्यकारों की रचना ११ "रस" की सरिता बही है और हम मुख्यतः उसे रस के लिए पढते भी हैं। किन्तु इतने से ही विद्वद्जनों को सतोष नहीं हो सकता, न रस की परिभाषा केवल शृंगार आता है। न इतने से हम संतोष कर सकते हैं कि बसन्त ा कोकिल ने किसी युवती से मर्मस्पर्शी स्वर मे कहा, "अपने मान को छोड़ो ा .गया हुआ यौवन फिर वापस नहीं आता।" यह दृष्टि भी एकागी और संकुचित होगी। इस सबध में दूसरे मत भी हो सकते हैं, किन्तु उनके नैतिक 'साहस'' और "ईमानदारी" पर सदेह करना ठीक न होगा।

प्राचीन आचार्यों ने रस का वर्गीकरण किया है, किन्तु आधुनिक ज्ञान के आलोक मे इस वर्गीकरण से हम सतुष्ट नहीं रह सकते। मनुष्य के मनो-विकारों और भावनाओं में बहुत-सी ऐसी भाव-भूमि है, जिसका संतोषप्रद विभाजन कठिन होगा। यह कहना बहुत आसान है कि जो सत्य हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं, और जो दूसरा नहीं देख पा रहा है, उसमें नैतिक बल अथवा 'ईमानदारी' की भी कमी है। किन्तु इससे कुछ लाभ नहीं होता।

विश्व के महान् लेखक शृंगार की अजस्र रस-धार ही नहीं प्लावित करते, जिसका पान करके सहृदय वाह-वाह कर उठते हैं। वे मानव जीवन की विविधता पर दृष्टिपात करते हैं, मनुष्य की सौंदर्य-भावना को विकसित और परिष्कृत करते हैं, जीवन-संघर्ष में उसे अधिक सम्पन्न और समर्थ बनाते हैं। साहित्य और कला में मनुष्य की सूक्ष्म और कोमल अनुभूतियाँ अभिव्यक्त होती हैं और उन्हें अपना कर साहित्य का पाठक जीवन को अधिक सुसंस्कृत, समृद्ध और सुखी बनाता है। विश्व का महान् साहित्य जीवन के प्रति महान् कलाकारों की स्वस्थ प्रेरणा और प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है।

अतीत का सभी साहित्य स्वस्थ भावनाओं का भंडार है, यह नहीं कहा जा सकता। अतीत का कुछ साहित्य जीवन के प्रति अस्वस्थ अथवा प्रतिगामी दृष्टिकोण भी रखता है और उसी अनुपात में उसका महत्त्व भी कम है। मनुष्य की विचार-धाराएँ, भावनाएँ और अनुभूतियाँ वस्तुस्थिति से प्रभावित होती हैं। जीवन से कट कर अलग विचारों और भावनाओं का अस्तित्व सम्भव नहीं है। कुछ विचारक कहते हैं कि जीवन-अनुभूति तो साहित्यकार के लिए अपेक्षित है, "जीवन-दृष्टि" भी, किन्तु "जीवन-दर्शन" नहीं। शायद इसका तात्पर्य यह है कि कवि या उपन्यासकार के लिए विचार-दर्शन सृजन-क्रिया में घातक है! आलोचक के लिए तो सभी सचेतन दृष्टि की आवश्यकता स्वीकार करेंगे। प्रत्येक जीवन-अनुभव के पीछे एक जीवन-दृष्टि अथवा जीवन-दर्शन निहित रहता है। अन्तर केवल इतना है कि कुछ व्यक्तियों की दृष्टि के पीछे एक सुसम्बद्ध और व्यवस्थित विचार-दर्शन रहता है, जीवन के व्यापारों के प्रति उनकी सचेत प्रतिक्रिया होती है, किन्तु कुछ केवल अनुभूतियों और भावनाओं के सहारे चलते हैं। इस पिछली कोटि के न व्यक्ति ही श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं, न लेखक। भावनावाद भी एक प्रकार का जीवन-दर्शन है, चाहे वह निम्न कोटि का ही जीवन-दर्शन हो।

प्रत्येक समाज-व्यवस्था अपने आर्थिक और सामाजिक संबंधों के अनुरूप विचारों, भावनाओं और अनुभूतियों को एक विशेष दिशा में मोड़ती है, एक विशेष साँचे में ढालती है। देश और काल के इस प्रभाव से बचना सम्भव

नहीं है। इतना ही नहीं, वरन् व्यक्तियों के समूह अथवा वर्गों के भी इस सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से विशेष सबध होते हैं और इन सबधों के अनुरूप उनकी दृष्टि में भी अन्तर आता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्गों का भी अपना दृष्टिकोण होता है। समाज में आप कहाँ खड़े हैं, इसका भी प्रभाव आपकी मानसिक और आध्यात्मिक गढन पर पडता है, अपनी वर्गभूमि से व्यक्ति और विचारक टूटकर भी अलग होते हैं। जिस वर्ग में उनका जन्म हुआ है, उसके प्रतिकूल विचार-दर्शन वे अपनाते हैं। यह तभी सभव है, जब पुरानी समाज-व्यवस्था संकट-ग्रस्त हो, पुराने सामाजिक सबध टूट रहे हों और नव-निर्माण की सभावनाएँ खुल रही हों।

हिन्दी साहित्य के मध्य युग में सन्त-कवियों ने लिखा और दर्बारी कवियों ने भी। उनकी दृष्टि में भी कितना बडा अन्तर है? दर्बारी कवियों की दृष्टि मूलतः अस्वस्थ है; वह ऐसे समाज के प्रतिबिम्ब हैं, जिसमें प्रगति की संभावनाएँ नष्ट हो चुकी हैं। इसके विपरीत सन्त-कवि मूलतः इस समाज-व्यवस्था के विरोध में खड़े थे, उससे असतुष्ट थे। उनके विचार-दर्शन में सामन्ती युग के अनेक प्रभाव थे, परन्तु मूलतः उनकी दृष्टि स्वस्थ और प्रगतिगामी है। इसी प्रकार अँग्रेजी साहित्य में शैली और सदे समकालीन थे। अपने जीवन-काल में सदे का बडा आदर, सम्मान और प्रभाव था; इसके विपरीत शैली तिरस्कृत और बहिष्कृत थे। किन्तु सदे का मूल्य घटता चला गया, और शैली का बढता गया। इसका कारण यही था कि सदे पुरानी, टूटती व्यवस्था के प्रतिनिधि थे, जो उनके विचार-दर्शन और साहित्य को प्रेरणा और बल देने में असमर्थ थी। शैली उस समाज-व्यवस्था के विरोध में खड़े थे। नये जीवन की कल्पना उनके काव्य की प्रेरणा और शक्ति का स्रोत थी। इस प्रकार यह मानना कठिन हो जाता है कि मनोवैज्ञानिक यथार्थ अर्थात् मानव-स्वभाव की रागात्मक सभावनाओं के उद्घाटक होने के नाते बिहारी एव विद्यापति हमारे वैसे ही महत्त्वपूर्ण शिक्षक हैं, जैसे कि बाल्मीकि और तुलसी।

प्रश्न उठता है, हम 'क्लासिक्स' को क्यों पढ़ते हैं? हमें उनसे क्या

मिलता है ? हमको 'क्लासिक्स' में अतीत का चित्र मिलेगा । समाज-शास्त्री उसे सचेत रूप से खोजेगा, किन्तु सामान्य पाठक भी 'क्लासिक्स' में पुरानी संस्कृति और पुराने युग के मानव की झलक पाता है। अतीत में उसे रस मिलता है, क्योंकि अतीत का बहुत कुछ अंश वर्तमान में भी है । 'क्लासिक्स' में वह मानव आत्मा के पुराने संघर्षों और विजयों की छवि देखता है । वाल्मीकि और तुलसी के समान महाकवियों में वह अतीत की उदात्त भावनाओं का प्रतिबिम्ब देखता है, कालिदास में वह स्वस्थ, 'मांसल' शृंगार और अनुपम प्रकृति-चित्रण पाता है, और यदि उसका मन अस्वस्थ और रोगी है, तो दर्बारी कवियों की कृतियाँ उसकी आत्मा में रस की धार स्रावित करेंगी । पाठक भी अपनी संस्कृति और रुचि के अनुसार 'क्लासिक्स' से रस पाता है । यदि वह काम-शास्त्र को साहित्य में खोजता है, तो "शृङ्गार-शतक" ही उसे अतीत की सर्वश्रेष्ठ रचना लगेगी । यदि "वैराग्य" अथवा "नीति" में उसे रुचि है, तो उसे यहाँ रस मिलेगा । हम समझते हैं कि रीतिकालीन कवियों की रचनाओं को आज विचारों अथवा भावनाओं के परिष्कार के लिए कम ही लोग पढ सकते हैं । इनमें हम शिल्प, भाषा-माधुरी और अभिव्यक्ति की चतुराई पाते हैं । इसकी प्रशंसा हम करते हैं, किन्तु यह कहना कठिन है कि यह साहित्य हमारा सौन्दर्य-बोध बढाता है, हमारी अनुभूतियों को मुखरित अथवा परिष्कृत करता है, अथवा उद्‌बुद्ध मानव का हमें दर्शन देता है ।

इस प्रकार हम अतीत के साहित्य में दो प्रकार की रचनाएँ पाते हैं । एक कोटि के लेखक तो होमर, दाँते और शेक्सपियर हैं, दूसरे पोप आदि हैं, जिनका मान अपने समय में अधिक था, लेकिन उत्तरोत्तर कम होता गया है । पोप की प्रशंसा डाक्टर जॉनसन ने मुक्तकण्ठ से की थी . 'शिल्प और कला से जो कुछ भी हो सकता था, वह पोप कर चुके । अब आगे हम उनके कार्य को दुहरा ही सकते हैं, इससे अधिक और कुछ करना संभव [illegible]।' जब. जॉनसन यह अतिशयोक्तिभरी प्रशंसा के वाक्य कह रहे थे,

साहित्य के आकाश में एक नया नक्षत्र, वर्ड्सवर्थ, उदय होने वाला ही था।

यह कहना कठिन है कि मृतप्राय सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रतिनिधि कलाकार, जैसे बिहारी, मतिराम, पद्माकर, आदि "हमारी जिज्ञासा और कुतूहल की भावना" को जाग्रत करते हैं, अथवा, "आज भी हमारे मस्तिष्क को झकझोरने की शक्ति" रखते हैं। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, सूर अथवा टैगोर और प्रेमचन्द की तुलना में आज भी हमारी भावनाओं को झकझोरने की उनकी शक्ति नगण्य है।

कहा जा सकता है कि "साहित्य और कला की उपयोगिता 'जीवन-दर्शन' तक सीमित नहीं है"। यदि हम ऐसा कहते हैं, तो 'जीवन-दर्शन' का बहुत सकुचित अर्थ लगाते हैं। वास्तव में 'जीवन-दर्शन' किसी भी कृति का सार-तत्व और प्राण है। इसी व्यापक अर्थ मे ऐरिस्टौटिल साहित्य को "जीवन का निरूपण" और मैथ्यू ऑरनल्ड कविता को "जीवन की आलोचना" कहते थे। 'जीवन-दर्शन' से तात्पर्य जीवन को देखने का ढँग, उसे समझने और चित्रित करने की क्षमता ही हो सकता है। जिस प्रकार शकर अथवा बटलर का दर्शन है, उस अर्थ में तो शेक्सपियर, हार्डी अथवा तुलसी ने दर्शन-ग्रन्थ नहीं लिखे, लेकिन एक जीवन-दर्शन अवश्य उनकी कृतियों में निहित है। जीवन के विविध व्यापारों पर कलाकार की मर्मवेधी दृष्टि पड़ती है, उनका रहस्य खोलती है और पाठक की दृष्टि को भी अधिक सम्पन्न और समृद्ध बनाती है। इसी व्यापक अर्थ मे हम कलाकार के जीवन-दर्शन की बात करते हैं। जिस हद तक उसका जीवन-दर्शन सकीर्ण और सीमित है, उसी हद तक उसकी कृति का महत्त्व काल की गति के साथ घटता चला जायगा। शेक्सपियर और तुलसी समस्त मानव-भावनाओं को अपने साहित्य में प्रतिबिम्बित और पुंजीभूत किये हैं। मिल्टन हमारी स्वतंत्रताप्रिय उदात्त भावनाओं को जाग्रत करते हैं। हार्डी हमारी सवेदनाओं को और भी गहरी और तीव्र बनाते हैं। इसीलिए हम उन्हें सर्वश्रेष्ठ "क्लासिक्स" के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु अतीत के ऐसे भी ख्यातनामा लेखक हैं जो हमारे

विचारों, भावनाओं और अनुभूतियों को उन्मुक्त दिशा नहीं देते। ऐसे लेखकों का महत्त्व निरन्तर कम होता जा रहा है और होता जायगा।

यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि वही जीवन-दर्शन कलाकार को मर्मवेधी दृष्टि देता है, जिसे वह पूर्णतया आत्मसात् कर चुका है, जो उसके चिन्तन और भावनाओं को निरन्तर दिशा देता है। यदि जीवन-दर्शन बाहरी आवरण-मात्र है, जिसकी स्थापनाएँ हम केवल दोहरा सकते हैं, जो हमारे जीवन-पथ को प्रति-पग और प्रति-पल आलोकित नहीं करता, तो वह हमारे साहित्य को समर्थ और सम्पन्न नहीं बना सकता।

गोस्वामी तुलसीदास

१

आज के भारतीय लेखक अपनी प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के सर्वोत्तम तत्व अपनाकर ही आगे बढ़ सकते हैं। इस परम्परा का वैज्ञानिक मूल्यांकन करना हमारा एक बड़ा दायित्व है। हमारी सांस्कृतिक परम्परा आज के निर्माण की दृढ़ नींव होगी। उससे हटकर हम अपने साहित्य और कला का आधुनिक भवन नहीं बना सकते। यदि हम इस परम्परा का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन नहीं करते, तो प्रतिक्रियावाद उस अमूल्य उत्तराधिकार को विकृत करके अपनाने का प्रयत्न करेगा और उस परम्परा के प्रगतिशील और जनवादी तत्व हमारी आँखों से ओझल हो जायँगे। भारतीय संस्कृति का मूल्यांकन वैज्ञानिक दृष्टि से अभी बहुत कम हुआ है; इस महत्त्वपूर्ण कार्य को हाथ में लेना अति आवश्यक है। इस दिशा में हमारे पहले प्रयास बहुत असंतोषप्रद होंगे, लेकिन इस दिशा में पहले क़दम उठाना भी जरूरी है। आगे चलकर अधिक संतोषजनक कार्य तभी हो सकेगा, जब हम साहस जुटाकर नई दिशाओं में बढ़ें।

गोस्वामी तुलसीदास भारत की महान् विभूतियों में से एक हैं। उनके सम्बन्ध में शास्त्रीय आलोचना तो काफी हुई है, किन्तु उनके साहित्य का सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कम मूल्यांकन हुआ है। तुलसी महाकवि हैं और अपने युग की सामाजिक, मानसिक और आध्यात्मिक परिस्थितियों का सच्चा और मार्मिक वर्णन करते हैं। उनके दृष्टिकोण में सामन्ती विचार-धारा के अवशेष मौजूद हैं, किन्तु वे भारत की असंख्य जनता के सच्चे हितू थे और उसी का अविभाज्य अंग थे। उनकी साहित्य-रचना का ध्येय जन-जन की सेवा ही था। प्रतिगामी विचारक तुलसी के जनवादी

तत्व ऑंख की ओट करना चाहते हैं, ताकि वह जनता को आसानी से भ्रम में डाल सकें। प्रगतिशील विचारकों को तुलसी की सम्पूर्ण विचार-धारा का विश्लेषण करके उसके अन्तर्विरोधों को स्पष्ट करना है।

तुलसी-साहित्य के सम्बन्ध में प्रगतिशील आलोचकों में दो मत रहे हैं। पहला मत ऐतिहासिक दृष्टि से पुराना है। इसके अनुसार तुलसीदास सामन्तवादी विचार-धारा के समर्थक थे और उनके साहित्य से सम्बन्ध तोड़कर ही प्रगतिशील विचार पनप सकते थे। ऐसा दृष्टिकोण प्रगतिशील आन्दोलन के प्रारम्भिक काल मे प्रकट होता है, किन्तु शीघ्र ही त्याग दिया जाता है। इसी प्रकार क्रान्ति के बाद कुछ रूसी विचारकों ने पुश्किन और टॉल्स्टॉय, शेक्सपियर, गटे और बाल्ज़ाक को उपेक्षा की दृष्टि से देखना शुरू किया था, किंतु लेनिन ने अपने निबन्धों में सही मार्क्सवादी दृष्टिकोण सोवियट जनता के सामने रक्खा। उन्होंने प्राचीन सास्कृतिक परम्परा को अपना अमूल्य उत्तराधिकार माना, किन्तु उन्होंने उसके अन्तर्विरोधों को भी स्पष्ट किया। टॉल्स्टॉय 'रूसी क्रान्ति के दर्पण' हैं, किन्तु उनके विचार-दर्शन में पारलौकिक तत्व भी हैं। वे अपनी ईसाइयत का डका पीटते हैं और अपनी छाती कूट-कूट कर कहते हैं. 'मैंने गोश्त खाना छोड़ दिया है और मैं आध्यात्मवादी बन रहा हूँ।' प्राचीन परम्परा की तरफ़ हमारा क्या दृष्टिकोण होना चाहिए, यह लेनिन इस प्रकार स्पष्ट करते हैं.

'जो कुछ भी मानव-समाज ने निर्मित किया है, उसका मार्क्स ने आलोचनात्मक विश्लेषण किया और उसका एक भी पहलू बिना अध्ययन किये नहीं छोड़ा। जो कुछ भी मनुष्य के विवेक ने गढा है, उसका उन्होंने मनन किया और उसकी विवेचना की, उसकी आलोचना की, मज़दूर आन्दोलन के प्रकाश में उसे परखा और ऐसे निष्कर्ष निकाले, जिन्हें बूर्ज़ुआ सीमाओं में बन्द अथवा बूर्ज़ुआ दुराग्रहों में बँधे लोग न देख सके। यह ध्यान में रखना चाहिए, जब हम, उदाहरण के लिए, सर्वहारा सस्कृति की बात करते हैं। बिना साफ़ तौर से यह समझे कि मनुष्य के सम्पूर्ण विकास में निर्मित सस्कृति के ठीक ज्ञान से ही, इसका विश्लेषण करके ही, सर्वहारा सस्कृति का निर्माण

हो सकता है—बिना इस समझ के हम इस समस्या को हल नहीं कर सकते। सर्वहारा संस्कृति ऐसी चीज़ नहीं, जो कहीं से भी नहीं उगती, वह ऐसे लोगों का आविष्कार नहीं, जो अपने को सर्वहारा संस्कृति का विशेषज्ञ कहते हैं। यह एकदम मूर्खता है। सर्वहारा संस्कृति ज्ञान के उस सम्पूर्ण भण्डार का ज़रूरी विकास होना चाहिए, जो मानवता ने पूँजीवादी समाज की दासता में किया है।......"[१]

इसी विषय पर क्लारा ज़ेटकिन से बातचीत के सिलसिले में लेनिन ने कहा था : "सुन्दर की रक्षा करनी चाहिए, उदाहरण के रूप में उसे ग्रहण करना चाहिए, कहाँ से शुरुआत करने के लिए, चाहे वह 'प्राचीन' ही हो। जो वास्तव में सुन्दर है, उसके प्रति हम क्यों विमुख हों, आगे विकास के लिए प्रारम्भिक बिन्दु के रूप में क्यों अस्वीकार करें, केवल इसलिए कि वह 'प्राचीन' है ? हम नवीन के सामने घुटने क्यों टेकें, जैसे किसी देवता के सामने, जहाँ हमें झुकना ही है, क्योंकि 'वह नवीन है' ?.. . यह मूर्खता है, निपट मूर्खता।"[२]

आगे चलकर प्रगतिशील लेखकों ने तुलसी के प्रति यह रुख अपनाया कि वे हमारी जनवादी परम्परा के जनक हैं। यह दृष्टिकोण अधिक सही था, किन्तु इस दौर में हमने तुलसी की विचार-धारा में अवशिष्ट जराजीर्ण, सामन्ती तत्वों की विवेचना नहीं की। इस प्रकार हम शास्त्रीय आलोचकों की प्रतिध्वनि-मात्र बन गये और तुलसी-साहित्य की सतुलित आलोचना न कर पाये।

तुलसी-साहित्य हमारी जनवादी परम्परा का एक छोर है, उसका हृदय है। हम आदर और सम्मान से इस अमूल्य उत्तराधिकार को अपनाते हैं,

---

१. रूसी कम्यूनिस्ट यूथ लीग की तीसरी काग्रेस, अक्तूबर १९२०, में भाषण।

२. क्लारा ज़ेटकिन से बातचीत।

किन्तु उसके अन्तर्विरोधों का अध्ययन और विश्लेषण भी आवश्यक है, नहीं तो हमारी आलोचना एकांगी होगी।

२

तुलसी-साहित्य का सही मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसकी ऐतिहासिक-सामाजिक पृष्ठभूमि पर एक दृष्टि डालें। तुलसी-साहित्य की मनःस्थितियाँ, उसका दृष्टि-बिन्दु और जीवन-दर्शन आवश्यक रूप से कवि के युग से प्रभावित हुए हैं। तुलसी के युग में भारतीय जनता की भावनाओं का दर्पण तुलसी का साहित्य है। भारतीय जनता के सांस्कृतिक संघर्ष में वह उसका अस्त्र रहा है, यद्यपि इस अस्त्र की धार कहीं-कहीं कुण्ठित भी है।

इस सांस्कृतिक संघर्ष का क्या रूप है? सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अथवा 'विक्रम की १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी की वाणी'[1] का स्फुरण हुआ। तुलसी के जीवन का अधिकांश भाग अकबर के राज्य-काल में बीता, कुछ उसके बाद। उनका मृत्यु-काल सम्वत् १६८० सर्वमान्य है.

"सम्वत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो सरीर॥"

उनके जन्म के सम्बन्ध में मतभेद हैं। कुछ ग्रन्थ आपका जन्म-काल सम्वत् १५५४ बताते हैं, इसके अनुसार आपकी मृत्यु १२७ वर्ष की आयु में हुई। 'शिवसिंह सरोज' में आपकी जन्म तिथि १५८३ सम्वत् बताई गई है। पं० रामगुलाम द्विवेदी जनश्रुति के आधार पर आपका जन्म-सम्वत् १५८९ बताते थे। इसे ग्रियर्सन, शुक्लजी और डा० माताप्रसाद गुप्त भी मानते हैं।

तुलसी-युग भारत में मुगल शासन का युग था। यद्यपि मुग़ल शासकवर्ग भारत में अनेक पीढ़ियों से बसा हुआ था, फिर भी उसने बहुसंख्यक शासित जनता और अपने बीच एक गहरी खाई रख छोड़ी थी। भारत के सम्पूर्ण

१. शुक्ल जी का इतिहास, पृष्ठ १२४

इतिहास में ही शासकवर्ग और शासित जनता के बीच यह बड़ी खाई रही है। एक ओर दारुण दैन्य, महामारी और गरीबी रही है और दूसरी ओर विलास और वैभव के सभी साधन। मुस्लिम शासन-काल में यह खाई और भी गहरी हो गई, क्योंकि अन्य भेदों के साथ अब धर्म, जाति और संस्कृति का भेद भी जुड गया था। अकबर के राज्य में हिन्दुस्तान की असंख्य जनता को मानो क्षण भर के लिए दारुण जीवन-भार से नजात मिली थी। शासकों की भारी सेनाओं का बोझ जनता को ही ढोना पड़ता था। भारी टैक्स उन्हें देने पड़ते थे। अकाल की आशंका और भूख की पीड़ा से जनता त्रस्त रहती थी। अन्य करों के अतिरिक्त हिन्दू जनता को दो और कर, जज़िया और यात्री कर, देने होते थे। अकबर ने इन्हें हटाकर असंख्य प्रजा को एक बड़े भार से मुक्ति दी थी। एक अंग्रेजी लेखक सौण्डर्स अपनी पुस्तक 'A Pageant of India' में लिखता है: "जो शासक अकबर से पहले आये थे और उनके उत्तराधिकारियों के बारे में हम एक प्राचीन चीनी देशभक्त के शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं, जिसने अपने समय के शासकों के लिए कहा था: उनके रसोईघरों में बढ़िया गोश्त है, उनके अस्तबलों में मोटे घोड़े। किन्तु जनता भूखी है और खेतों में मृतकों के भूख के मारे हुए शव पड़े हैं।"

'कवितावली' में तुलसीदास अनेक स्थलों पर इस कठोर, क्रूर जीवन का वर्णन करते हैं। बचपन में वह दाने-दाने के लिए बिलबिलाते थे:

"बारे ते ललात, बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हों चारि फल चारि ही चनक को।"

इसी प्रकार महामारी का वर्णन भी आपने किया है:

"बीसी बिस्वनाथ की बिषाद बढ़ो बारानसी,
बूझिए न ऐसी गति संकर-सहर की।"

यह भी स्पष्ट है कि अकबर के समान उदार-हृदय शासकों को छोड़कर अनेक मुस्लिम शासकों के राज्य-काल में बहुसंख्यक हिन्दू जनता की दशा और भी ख़राब हो जाती थी। बरानिकोफ ध्यान दिलाते हैं कि यद्यपि प्राचीन

काल में भी भारत पर अनेक आक्रमण हुए थे, इन आक्रमणकारियों की संस्कृति भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा में घुल-मिल गई थी, मुस्लिम शासक भारत के पहले शासक थे, जो भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा से अलग रहे और इसे मिटाने का प्रयत्न भी कुछ शासकों ने किया। इस सांस्कृतिक संघर्ष के फलस्वरूप हम भारत का सन्त साहित्य पाते हैं। यह साहित्य उस युग की असंख्य भारतीय जनता का स्वर है और उसके हृदय के उद्गारों और आकांक्षाओं को व्यक्त करता है। इस स्वर में हम यह भी ध्वनि पाते हैं कि क्या ब्राह्मण, क्या जुलाहा, क्या हिन्दू, क्या तुरुक—सभी एक हैं : और यह ध्वनि भी कि इस जीवन की सभी पीड़ाओं का एक ही उपचार रह गया है, राम नाम का स्मरण। लौकिक जीवन से निराश होकर सन्त-समुदाय पारलौकिक दृष्टिकोण अपनाता है, किन्तु इस जीवन की गहरी व्यथा और पीड़ा को भी वह व्यक्त करता है।

तुलसीदास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन बरानिकोफ इन शब्दों में करते हैं : "मुगल साम्राज्य का संगठन क्रूर युद्धों, जनता की लूट, गाँवों और शहरों के विनाश द्वारा, अकाल और कट्टर धार्मिक यन्त्रणाओं और नृशंसताओं की बाढ़ के साथ पूरा हुआ। तुलसीदास का बचपन और युवावस्था इन्हीं भयानक दिनों में बीते।"[1]

तुलसी-साहित्य और सम्पूर्ण सन्त-साहित्य को इसी पृष्ठभूमि में रखकर परखना चाहिए। उसकी लौकिकता और पारलौकिकता इसी भूमि की स्वाभाविक उपज है। सन्त कवियों की रचना में निरन्तर यह ध्वनि है कि जीवन दुःसह, दुर्निवार बोझ बन गया है और इससे त्राण पाने का केवल एक ही उपाय है, ब्रह्म में लीन होना। सन्त कवियों में सबसे अधिक सामाजिक विद्रोह की भावना कबीर में है, किन्तु अन्ततः वे भी ईश-उपासना का मार्ग अपनाते हैं, यद्यपि उनका ब्रह्म ऊँच-नीच, ब्राह्मण-शूद्र और हिन्दू-मुसलमान के भेद नहीं मानता। कबीर कहते हैं

१ बरानिकोफ 'तुलसीदास का युग', 'नया साहित्य,' अगस्त, ५१

"जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरि सुखी न देखा,
उदै-अस्त की बात कहत हौं, ताकर करौ विवेखा।
बाटै-बाटै सब कोई दुखिया, क्या गिरही बैरागी,
सुकाचार्य दुख ही के कारन, गरभै माया त्यागी।
जोगी दुखिया, जगम दुखिया, तापस को दुख दूना;
आसा-तृष्णा सब घट व्यापै, कोई महल नहिं सूना।
साँच कहौं तौ सब जग खीजै, झूठ कहा नहिं जाई,
कहै कबीर तेई भे दुखिया, जिन यह राह चलाई।
यह ससार कागद की पुड़िया, बूँद परे घुल जाना है;
यह ससार झाड औ' झाँखर, आगि लगे बरि जाना है।
कहत 'कबीर' सुनो भई साधो, सतगुरु-नाम ठिकाना है॥"

जग के दुःखवाद से वैराग्य में त्राण देखना भारतीय दर्शन का चिर-परिचित पथ है। कबीर के समान विद्रोही कवि भी मायावाद में जीवन की दारुण पीड़ा से मुक्ति देखते हैं। नानक भी कहते हैं :

"जो नर दुःख में दुख नहिं माने,
सुख, सनेह अरु भय नहि जाके, कचन माटी जाने।
नहिं निन्दा, नहि अस्तुति जाकै, लोभ, मोह, अभिमाना,
हरष, सोक तें रहै नियारो, नाहिं मान, अपमाना।
आसा, मनसा सकल त्यागि कै, जग तें रहै निरासा,
काम, क्रोध जेहि परसै नाहिन तेहि घर ब्रह्म-निवासा।
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्ही, तिन्ह यह जुगति पिछानी,
'नानक' लीन भयो गोविन्द सो, ज्यों पानी सँग पानी॥"

सन्त-काव्य के परलोकवाद के सम्बन्ध में प० रामचन्द्र शुक्ल के शब्द काफी तीखे हैं। "आगे चलकर जब मुस्लिम-साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया, तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी उलट-फेर के पीछे हिन्दू जन-समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी-सी छाई

रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"[1]

२

अपने काव्य-ग्रंथ 'तुलसीदास' में 'निराला' तुलसी के प्रति इन शब्दों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं :

"देश-काल के शर से बिंधकर
यह जागा कवि अशेष-छविधर
इसका स्वर भर भारती मुखर होएँगी,
निश्चेतन, निज तन मिला विकल
छलका शत-शत कल्मष के छल
बहतीं जो, वे रागिनी सकल सोएँगी।

तुलसी का जीवन-काल लगभग एक शताब्दी अपने डगों में भरता है, कुछ किंवदन्तियों के अनुसार इससे भी अधिक। तुलसीदास राजापुर-निवासी सरयूपारी ब्राह्मण थे। एक मत के अनुसार वे सोरो, जिला एटा के रहने वाले थे, किन्तु अधिक प्रामाणिक पहला ही मत है। शुक्ल जी के अनुसार जिस 'शूकरक्षेत्र' की बात तुलसी 'रामचरितमानस' में कहते हैं, वह "गौंड़ा के ज़िले में सरजू के किनारे एक पवित्र तीर्थ है।"[2] किन्तु डा० माताप्रसाद गुप्त शूकर क्षेत्र को सोरों ही मानते हैं, यद्यपि राजापुर और सोरों के बीच आप किसी अन्तिम निर्णय पर नहीं पहुँचे हैं। दोनों ही मत आपने अपने विश्लेषण के साथ उद्धृत किये हैं।

अशुभ घड़ी में जन्म होने के कारण बचपन में ही माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया था। 'कवितावली' में आपने लिखा है

"मातु पिता जग जाइ तज्यो, विधि हू न लिखो कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर, कूकर टूकन लागि ललाई।" आदि

और 'विनय पत्रिका' में)

---

१ शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६०
२. इतिहास, पृष्ठ १२६

"तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु पिता हू।"

डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार इनके माता-पिता की मृत्यु इनके शैशव में ही हो गई थी और भयानक दैन्य और गरीबी में यह बड़े हुए: "इसमें कोई भी सदेह नहीं कि कवि को अपने प्रारम्भिक शैशव काल में अत्यन्त भयानक दरिद्रता का सामना करना पडा था।"[1]

इनकी पत्नी ने भी अधिक आसक्ति के कारण इन्हें दुत्कारा था। इस पर किंवदन्तियाँ एकमत हैं। इनका जीवन काशी, अयोध्या, चित्रकूट आदि में बीता। काशी में आपकी शिक्षा-दीक्षा और मृत्यु हुई। अयोध्या में आपने 'मानस' की रचना प्रारम्भ की :

"सवत् सोरह सै इकतीसा, करऊँ कथा हरि-पद धर सीसा।
नौमी, भौम वार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा।"

बरानिकौफ़ तुलसी-कृत छै बड़े ग्रन्थ और छै छोटे ग्रन्थ प्रामाणिक मानते हैं। यही ग्रियर्सन का भी मत था। शुक्ल जी भी इन्हा बारह ग्रन्थों को "जिनमें पाँच बड़े और सात छोटे हैं"[2] प्रमुख मानते हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त की सूची में तेरह ग्रन्थ हैं।[3] इनमें 'रामचरित मानस', 'विनय-पत्रिका', 'कवितावली', 'गीतावली' और 'दोहावली' विशेष प्रसिद्ध हैं। अनेक शैलियों में गोस्वामी जी ने रचना की और सभी मे वे सफल हुए। इन ग्रन्थों में कवि ने अपार मानव-जीवन को सफलतापूर्वक बाँधा है, उसकी विविधता और बहुरूपता पर व्यापक दृष्टि डाली है, हर्ष, विषाद, प्रेम, घृणा, उल्लास, आशा, निराशा आदि के अतिरेक का मर्मस्पर्शी वर्णन उन्होने किया है। उनकी सृजनात्मक शक्ति असीम थी। इन्हीं गुणों के कारण वे ससार के सर्वोत्तम कवियों की पाँत मे अनायास ही स्थान लेते हैं।

तुलसी-साहित्य के जनवादी तत्व क्या हैं, जिन्हें आज का भारतीय

---

१. 'तुलसीदास', पृष्ठ १३८

२. शुक्ल जी का इतिहास, पृष्ठ १४४

३. 'तुलसीदास', पृष्ठ २१३

साहित्यकार अपनी थाती समझकर सहेजेगा ? तुलसी ने सदा मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर साहित्य रचा। उनका साहित्य भारतीय जन-समाज की पीडा और व्यथा से ओत-प्रोत है। उन्होंने जनता तक पहुँचने के लिए 'भाषा' में रचना की। यह भाषा अत्यन्त सरल, मधुर और जन-सुलभ थी। उनका साहित्य मनुष्य का मानसिक धरातल ऊँचा करता है और जीवन-संघर्ष में उसे बल देता है। वे शासक-वर्ग के विरुद्ध थे और त्रस्त जनता के बीच उनका स्थान था।

शुक्ल जी तुलसी की 'लोक-संग्रह' की भावना के सम्बन्ध में कहते हैं: "लोक-संग्रह का भाव उनकी भक्ति का एक अंग था।"[1] तुलसी स्वयं बार-बार कहते हैं कि कुटिल कलिकाल के पापों को धोने के लिए उन्होंने 'मानस' की रचना की। और कवियों ने भी इसी प्रकार के भाव प्रकट किये हैं

"कलि कुटिल जीव निस्तार-हित, वाल्मीकि तुलसी भयो।"

'मानस' के प्रारम्भिक पदों में तुलसीदास लिखते हैं:

"कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन-मन मीना॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत शमन सकल जग जाला॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥
नहिं कलि कर्म न भक्ति विवेकू। राम नाम अवलम्बन एकू॥"

तुलसी अपने युग को घोर कलिकाल समझते हैं। इस युग में पृथ्वी का भार दुःसह, दुर्निवार हो उठा:

"ब्रह्म-सृष्टि जँह लगि तनु-धारी। दसमुख-बसबर्ती नर नारी।"
"अतिसय देखि धरम की हानी। परम सभीत धरा अकुलानी।"

'मानस' के उत्तर काण्ड में गोस्वामी जी ने कलियुग का बहुत मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है:

"जो कुछ झूठ, मसखरी जाना, कलियुग सोई गुनवन्त बखाना।
निराचार जो स्रुति-पथ त्यागी, कलिजुग सोइ ज्ञानी, बैरागी।

---

१ इतिहास, पृष्ठ १४१

जाके नख अरु जटा बिसाला, सोई तापस प्रसिद्ध कलिकाला।
मारग सोई, जा कहँ जो भावा, पंडित सोई जो गाल बजावा।
नारि बिबस नर सकल गोसाईं, नाचहिं नर, मरकट की नाईं।
गुन-मन्दिर, सुन्दर पति त्यागी भजहिं नारि पर-पुरुष अभागी।
पर-तिय-लम्पट, कपट-सयाने, लोभ-मोह-ममता लपटाने।
नारि मुई, घर सम्पति नासी; मूड़ मुड़ाइ भये सन्यासी।
बहु दाम सँवारहिं धाम जती; बिषया हरि लीन्हि गई बिरती।
तपसी धनवन्त, दरिद्र गृही, कलि-कौतुक तात, न जात कही।
धनवन्त कुलीन मलीन अपी; द्विज-चिह्न जनेउ, उघार तपी।
कलि बारहि बार दुकाल परै; बिन अन्न दुखी सब लोक मरै।
अबला कच भूषन, भूरि छुधा, धनहीन, दुखी, ममता बहुधा।
सुख चाहहिं मूढ़, न धर्मरता, मति थोरि, कठोरि, न कोमलता।
नर पीड़ित रोग, न भोग कहीं; अभिमान, विरोध अकारन हीं॥"

इन सब यातनाओं का एक ही उपचार कवि जानता है, राम-भक्ति। तुलसी के सम्पूर्ण साहित्य का यही मूल-मंत्र है। राम-नाम से सभी भव-बंधन कट जाते हैं :

"जोबन-जुर केहि नहिं बलकावा, ममता केहि कर जस न नसावा?
चिन्ता-साँपिनि काहि न खाया, को अस, जाहि न ब्यापी माया?
कीट मनोरथ, दारु-सरीरा; जेहि न लागि घुन, को अस धीरा?
यह सब माया कर परिवारा, प्रबल अमित को बरनइ पारा?
सो प्रभु-भ्रू-बिलास खगराजा, नाच नटी इव सहित समाजा।
सोई सरबज्ञ गुनी बर ज्ञाता; सोइ महि-मंडन पंडित दाता।
धरम-परायन, सोइ कुल-त्राता, राम-चरन जाकर मन राता।
नीति-निपुन सोई परम सयाना, श्रुति-सिद्धान्त नीक सोइ जाना।
सोइ कवि-कोविद, सोइ रनधीरा; जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा।"

इस जीवन-दर्शन की सीमाएँ स्पष्ट हैं। इस पोत पर भव-सागर पार करना दुःसाध्य है। किन्तु तुलसी जीवन के प्रति तीव्र चेतना रखते थे, यद्यपि

यह चेतना भव-भार का रूप धारण करती है। तुलसी का साहित्य मनुष्य को ऊँचा उठाता है और हम उन्हें मानवतावादी—आध्यात्मिक कवि कह सकते हैं। वे भारतीय जनता की अथाह पीड़ा और व्यथा से द्रवित हुए थे, उनका साहित्य जीवन-संघर्ष में जनता का सम्बल बना और उसके जीवन में वह व्याप्त हो गया। महामारी का तुलसी ने जैसा वर्णन किया है, वैसा शायद आज के कुछ कवि अपने 'कला-कला के लिए' सिद्धान्त के प्रतिकूल समझें .

"सकर-सहर सर, नारि नर बारि चर, बिकल सकल, महामारी माया भई है,
उछरत, उतरात, हहरात, मरि जात, भभरि भगात जल-थल मीच मई है।
देवन दयाल महिपालन कृपाल चित, बारानसी बाढ़त अनीति नित नई है,
पाहि रघुराज, पाहि कपिराज, राम-दूत, राम हू कि बिगरी तु ही सुधारि लई है।"

तुलसी-साहित्य निरन्तर उच्चतम भावनाओं और गुणों का प्रचार करता है और मनुष्य का मानसिक स्तर ऊँचा करता है। तुलसी तप, संयम, सत्संग आदि की महिमा गाते हैं। इन गुणों की प्रत्येक जाति, देश और युग को आवश्यकता होती है, किन्तु बिना दूषित समाज और राजनीति की व्यवस्था में आमूल परिवर्तन किये हम इन गुणों से ही जीवन से पार नहीं पा सकते। तुलसी सत्संग की महिमा गाते हैं

"को न कुसंगति पाइ नसावा ? केहि न सुसंग बड़प्पन पावा ?
भगति सुतंत्र सकल सुख खानी, बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी।
बरु भल बास नरक कर ताता, दुष्ट-संग जनि देइ बिधाता।
तात सरग-अपबरग-सुख, धरहु तुला इक अंग,
तुलहि न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव-सत्संग।"

दूसरों के लिए कवि जीवन तक देने के पक्ष में हैं ;

"परहित लागि तजै जो देही, सन्तत सन्त प्रशंसहिं तेही।"

तुलसी की पंक्तियाँ भारत के मानस में बस गई हैं और निरन्तर उनकी प्रतिध्वनि हमारी स्मृति में गूँजा करती है। प्रतिदिन हम इन पंक्तियों का व्यवहार करते हैं .

"पराधीन सपनेहु सुख नाहीं"

अथवा,

"जे न मित्र दुख होहि दुखारी, तिनहिं बिलोकत पातक भारी।"

या,

"आवत ही हरषै नहीं, नैनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइये, कंचन बरसै मेह।"

उनके गढे चरित्र राम, भरत, सीता, लक्ष्मण आदि मनुष्य का मानसिक स्तर ऊँचा करते हैं। उनका साहित्य कुल मिला कर भारतीय जनता के संघर्षों में उसका बहुमूल्य अस्त्र रहा है, यद्यपि उनकी सीख में ऐसे अनेक तत्व भी हैं, जिन्हें छोड़ देना जरूरी है।

यद्यपि तुलसी ने निरन्तर ब्राह्मण जाति के प्रति अपनी श्रद्धा दिखाई है, किन्तु फिर भी हरि-भक्ति में सभी छोटे-बड़े बराबर हो जाते हैं। राम ने केवट की सेवा प्रसन्न-वदन स्वीकार की और शबरी के जूठे बेर रुचि से खाये। स्वयं अपने लिए वह कहते हैं:

"पूछ्यो ज्यों ही, कह्यो, मैं हूँ चेरो ह्वै हों रावरो जू,
मेरे कोऊ कहूँ नाहीं, चरन गहत हों।
लोग कहैं पोच, सो न सोच, न सँकोच मेरे,
ब्याह न बरेखी, जाति-पाँति न चहत हो॥"

एक और स्थान पर आप कहते हैं:

"धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहो जुलहा कहो कोऊ,
काहू कि बेटी से बेटा न ब्याहबो, काहू कि जाति बिगार न सोऊ।
'तुलसी' सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सु कहै कछु ओऊ,
माँगिकै खायबो, मसीत को सोयबो, लेबे को एक, न देबे को दोऊ।"

४

तुलसी के विचार-दर्शन में अनेक ऐसे तत्व है, जिन्हें अलग करके ही हमारे साहित्य की जनवादी परम्परा प्रगति कर सकती है। राम-भक्ति को वह हमारे

सभी दु.खों के लिए अमोघ औषधि मानते हैं। पीड़ित और त्रस्त मानवता के लिए यह भुलावा बन सकता है। तुलसी का आध्यात्मवाद और परलोकवाद भी प्रगतिशील विचार-धारा के तत्व नहीं बन सकते। जहाँ तुलसी-साहित्य की सम्पूर्ण सृजन-प्रेरणा भारतीय जनता की दु.सह, दुर्निवार पीड़ा है, वहाँ उनका जीवन-दर्शन इस ससार से मुँह मोड़कर ही इस व्यथा से त्राण पाने का स्वप्न देखता है। उनकी विचार-धारा मे उस समय के अनेक सामन्ती अवशेष हैं, जो उनके जनवादी तत्वों को ढँक देते हैं। इन्हें अलग करना आवश्यक है। यह है उनकी वर्णाश्रम धर्म मे आस्था, ब्राह्मणवाद आदि, जिससे कबीर ने छुटकारा पा लिया था। स्त्रियों और नीच जातियों के प्रति भी तुलसी-साहित्य में हीनता की भावना है। इन अन्तर्विरोधों को दर्शाना तुलसी की जनवादी परम्परा की रक्षा के लिए अति आवश्यक है।

तुलसीदास सब-कुछ हरि-इच्छा पर छोड़ देते हैं। भाग्य को वह बहुत बली मानते हैं :

"हरि इच्छा भावी बलवाना।"

अथवा,

"होइहै सोइ, जो राम रचि राखा, को करि तर्क बढावइ साखा?"

भाग्यवाद के तुलसी-साहित्य मे अगणित उदाहरण मिलते हैं :

"तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय॥"

पार्वती को कैसा वर मिलेगा, यह उनकी हाथ की रेखाओं मे लिखा है :

"जोगी, जटिल, अकाम तनु, नगन, अमगल बेख।
अस स्वामी यहि कहँ मिलिहि, परी हस्त अस रेख॥"

तुलसी की सूक्तियाँ भारतीय जनता की स्मृति मे बस गई हैं। सड़कों पर चलते हुए भी आप सुन सकते हैं —"विधि का लिखा को मेटन हारा?" आदि। इस भाग्यवाद के विरुद्ध प्रगतिशील विचार-धारा को लम्बा सघर्ष करना होगा।

गोस्वामी जी "राजा को ईश्वर का अंश समझते थे"[1] :

"साधु, सुजान, सुसील नृपाला, ईस-अंसभव परम कृपाला।"

यह तुलसी के अपने युग की सीमाएँ हैं, जिन्हें जनवाद और समाजवाद की ओर बढ़ता हुआ आज का संसार स्वीकार नहीं कर सकता।

ब्राह्मणों की महिमा तुलसीदास ने निरन्तर गाई है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त उन्हें वर्णाश्रम धर्म का समर्थक कहते हैं : "तुलसीदास वर्णाश्रम धर्म के पूरे समर्थक थे और ब्राह्मण-सेवा तक का उपदेश राम-भक्ति के साधन रूप में करने वाले थे "।[2] शबरी की प्रशंसा वह करते हैं, किन्तु उनका दृष्टि-कोण यह है कि राम की भक्ति से नीच-से-नीच भी तर जाते हैं :

"जातिहीन, अघ जनममय, मुकुत कीन्हि असि नारि।
महामद मन, सुख चहसि, ऐसे प्रभुहिं बिसारि॥"

ब्राह्मणों के सामने वे बारम्बार सिर नवाते हैं :

"बिप्र-चरन-पंकज सिर नावा।"
"मंगल-मूल बिप्र परितोषू ; दहै कोटि कुल भूसुर-रोषू।"
"सापत, ताड़त, परुष कहता, बिप्र पूज्य, अस गावहि सन्ता।
पूजिय बिप्र सील-गुन-हीना, नहिन सूद्र गुन-ज्ञान प्रवीना।"

स्त्रियों से गोस्वामी जी बेहद घबराते थे; उन्हें वह मनुष्य के पतन का साधन समझते थे। यह विचित्र बात है कि तुलसी को पतन से स्त्री ने बचाया, किन्तु स्त्री-मात्र के प्रति आपके काव्य में इतनी आशंका और उपेक्षा है। साथ ही हम यह भी स्मरण रक्खें कि जिन तुलसीदास ने निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी थीं, उन्होंने ही सीता का विश्व-वंदनीय चरित्र भी रचा था :

"का नहिं पावक जरि सकइ, का न समुद्र समाइ।
का न करै अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ?"

---

१. 'हिन्दी नवरत्न' मिश्रबन्धु, पृष्ठ ४१
२. 'तुलसीदास' पृष्ठ १५०

"राखिय नारि जदपि उर माँही, शास्त्र, नृपति, जुवती बस नाहीं।
पाप उलूक निकर सुखकारी, नारि निबिड रजनी अँधियारी।"
"नारि सुभाव साँच कपि कहहीं, अवगुन आठ सदा उर रहहीं।
साहस, अनृत, चपलता, माया, भय, अविवेक, असौच, अदाया।"
साँचु कहइ कवि नारि सुभाऊ, सब विधि अगम, अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिम्ब मुकुर गहि जाई, जानि न जाइ नारि-गति माई।"

तुलसी की विचार-धारा में ऐसे अनेक अंश हैं, जिन्हें अलग करके ही उनके जनवादी तत्व उभरकर ऊपर आयेंगे। आप कहते हैं .

"मातु, पिता, प्रभु, गुरु की बानी। बिनहिं विचारि करिय सुभ जानी॥"

बिना ऐसे विचारों से संघर्ष किये तुलसी-साहित्य की भारतीय फासिस्तवाद से रक्षा नहीं हो सकती।

५

तुलसी के विचार-दर्शन में अनेक अन्तर्विरोध हैं। यह युग की परिस्थितियों में स्वाभाविक था। किन्तु कुल मिलाकर तुलसी का जनवादी रूप ही इनके साहित्य का प्रधान रूप है। उनका साहित्य भारतीय जनता की वाणी है और उसके संघर्षों में उसका सम्बल रहा है। भारतीय जनता की अनन्त व्यथा तुलसी की काव्य-प्रेरणा का स्रोत है। इसी स्रोत से फूटकर कवि की वाणी अजस्र वेग और बल से बही है।

कवि के रूप में जब हम तुलसी का महत्त्व आँकते हैं, तो मुख्यत 'मानस' के रचयिता के रूप में ही हम उन्हें देखते हैं, यद्यपि शुक्ल जी और मिश्र-बन्धुओं ने भी उनकी सर्वतोमुखी काव्य-प्रतिभा की प्रशसा की है। काव्य की जितनी शैलियाँ तुलसी-युग में प्रचलित थीं, सभी में तुलसी ने अधिकार से काव्य-रचना की, कवित्त और सवैयों में, गीत, दोहे छप्पय आदि सभी शैलियों पर उन्होंने विजय प्राप्त की। किन्तु तुलसी विशेषतय महाकाव्यकार के रूप में ही हमारे हृदय को जीतते हैं। हिन्दी-साहित्य में इस दिशा में तुलसी अद्वितीय हैं। महाकाव्य-रचना के लिए असाधारण सृजन-शक्ति होनी चाहिए, वह

तुलसी में थी। उनकी प्रेरणा के अक्षय स्रोत का कोई अन्त नहीं। न जायसी, न केशव और न सूर की प्रतिभा इस श्रेणी की थी। गीति-काव्य में सूर असाधारण हैं, किन्तु तुलसी की पट-भूमि बहुत विस्तृत है। तुलसी की प्रेरणा में जीवन की गति और उसका विस्तार है।

जीवन के सभी अंगों को उन्होंने छुआ, और जो-कुछ भी उन्होंने छुआ, उसे समृद्ध किया। जन्म, मरण, हर्ष, विषाद, सघर्ष, विजय और पराजय—सभी केअमर क्षण तुलसी की कथा में गुँथे हैं। मानो अथाह, अबाध जीवन को कवि ने बाँधने का प्रयास किया है और उसमें वह सफल भी हुआ है। तुलसी की कला महान्, मानवतावादी कला है और इसी कारण वह सदैव आदर पाती रहेगी।

तुलसी का चरित्र-चित्रण उनकी बडी विभूति है। तुलसी का मानव आदर्श मानव है, वह देव-तुल्य हैं। 'मानस' के सर्वश्रेष्ठ चरित्र भरत हैं। उनकी तुलना में इस महाकाव्य के अन्य पात्र छोटे लगने लगते हैं। दशरथ आदर्श पिता हैं, कौशल्या आदर्श माँ, सीता आदर्श पत्नी, लक्ष्मण आदर्श भाई और राम आदर्श पुरुष। इन चरित्रों ने अनन्त काल से भारतीय जनता के मन को प्रभावित किया है, उसके अन्तस्तल को झकझोरा है और उसके प्राणों को उदात्त बनाने मे मदद दी हैं। तुलसी देव और राक्षसों के बीच की भूमि जानते ही नहीं। किन्तु इन महाप्राण पात्रों से भी अधिक उदार तुलसी ने भरत के चरित्र को बनाया है।

तुलसी की कला में प्रौढता और अनुपम रूप-शृङ्गार भी है। कथा की गति, तरलता और वेग, पात्रों का चित्रण, प्रकृति-वर्णन, कल्पना, भाषा-माधुरी, उपमाएँ, रूपक, सूक्तियाँ—सभी दिशाओं में तुलसी की कला प्रौढ है और उनकी प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है। तुलसी के वर्णन अत्यन्त सुन्दर और मनोहारी हैं। यह उनकी कला की एक बड़ी विशेषता है। कथा के लम्बे सूत्र में कवि ने निरन्तर इस गुण का निर्वाह किया है; कहीं भी उसकी प्रेरणा मन्द नहीं पडी है। यह दूसरी बात है कि उनकी अतिशय राम-भक्ति के

कारण उनके रावण और परशुराम निवार्य, जराजीर्ण ब्राह्मणों की भाँति व्यवहार करें।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' मे शुक्ल जी तुलसी की काव्य-प्रतिभा का वर्णन इन शब्दो मे करते हैं .

"रचना-कौशल, प्रबन्ध-पटुता, सहृदयता इत्यादि सब गुणो का समाहार हमें रामचरितमानस में मिलता है। पहली बात जिस पर ध्यान जाता है, वह है कथा-काव्य के सब अवयवो का उचित समीकरण। कथा-काव्य या प्रबन्ध-काव्य के भीतर इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार-वर्णन, भाव-व्यञ्जना और सवाद, ये अवयव होते हैं। न तो अयोध्यापुरी की शोभा, बाल-लीला, नखशिख, जनक की वाटिका, अभिषेकोत्सव इत्यादि क वर्णन बहुत लम्बे होने पाए हैं, न पात्रो के सवाद, न प्रेम, शोक आदि भावो की व्यञ्जना। इतिवृत्त की शृङ्खला भी कहीं से टूटती नहीं है।

"दूसरो बात है कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान। अधिक विस्तार हमें ऐसे ही प्रसगो का मिलता है, जो मनुष्य-मात्र के हृदय को स्पर्श करने वाले हैं। जैसे, जनक की वाटिका मे राम-सीता का परस्पर दर्शन, राम वन-गमन, दशरथ-मरण, भरत की आत्म-ग्लानि, वन के मार्ग में स्त्री-पुरुषो की सहानुभूति, युद्ध, लक्ष्मण को शक्ति लगना, इत्यादि।

"तीसरी बात है प्रसगानुकूल भाषा। "[१]

अयोध्या, जनकपुरी आदि के वर्णन कवि ने बडी सुन्दरता से किये हैं। इसी प्रकार राम आदि के रूप का वर्णन, सेनाओ का वर्णन, प्रकृति-वर्णन आदि। जनकपुरी का वर्णन इस प्रकार हुआ है

"बनै न बरनत नगर निकाई। जहाँ जाइ मन तहाँ लुभाई।
चारु बजार विचित्र अटारी। मणिमय विधि जनु स्वकर सँवारी।
धनिक बनिकबर धनद समाना। बैठे सकल वस्तु लै नाना।
चौहट सुन्दर गली सुहाई। सन्तत रहहिं सुगन्ध सिंचाई।

---

१ इतिहास, पृष्ठ १४२

मंगलमय मन्दिर सब केरे। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे।
पुर नर नारि सकल सुचि सन्ता। धर्मशील ज्ञानी गुणवन्ता।
अति अनूप जहँ जनक निवासू। विथकहिं विबुध विलोकि विलासू।
होत चकित चित कोट विलोकी। सकल भुवन शोभा जनु रोकी।

धवल धाममणि पुरट-पट, सुघटित नाना भाँति।
सिय निवासु सुन्दर सदन, शोभा किमि कहि जाति॥"

पुष्प-वाटिका में राम और जानकी के प्रथम मिलन का वर्णन 'मानस' के सर्वश्रेष्ठ स्थलों में है :

"देखन बाग कुँअर दोऊ आए। वय किशोर सब भाँति सुहाए।
श्याम गौर किमि कहऊँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।
सुनि हरषीं सब सखी सयानी। सिय हिय अति उत्कण्ठा जानी।
एक कहहिं नृप सुत ते आली। सुने जे मुनि सँग आये काली।
जिन निज रूप मोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर नारी।
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिये देखन जोगू।
तासु वचन अति सियहि सुहाने। दरश लागि लोचन ललचाने।
चलीं अग्र करि प्रिय सखी सोई। प्रीति पुरातन लखै न कोई।

सुमिरि सीय नारद वचन, उपजी प्रीति पुनीत।
चकित विलोकति चहुँ दिशि, जनु शिशुमृगी सभीत॥

कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्हीं। मनसा विश्व-विजय कहँ कीन्हीं।
अस कहि फिर चितये तेहि ओरा। सियमुख शशि भए नयन चकोरा।
भये विलोचन चारु अचंचल। मनहुँ सकुच निमि तजेउ दृगञ्चल।
देखि सीय शोभा सुख पावा। हृदय सराहत वचन न आवा।
जनु विरंचि सब निज निपुनाई। विरचि विश्व कहँ प्रकट दिखाई।
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छबि-गृह दीप-शिखा जनु बरई।
सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरिय विदेह कुमारी॥"

अनेक उपमाओं, रूपकों और अलकारो से तुलसी-काव्य का शृङ्गार हुआ है, किन्तु यह सभी काव्य-आभूषण सच्ची भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति हैं, और कहीं भी काव्य को बोझिल नहीं बनाते। कहीं-कहा तुलसी की उपमाएँ नैतिकता के रग में भी रँगी हैं, जैसे ऋतु-वर्णन मे। किन्तु सदा ही तुलसी का प्रकृति-वर्णन नैतिकता में डूबा हुआ नहो होता। 'अरण्य काण्ड' में वन का वर्णन कितना सुन्दर है :

"बिकसे सरसिज नाना रगा। मधुर मुखर गुञ्जत बहु भृङ्गा।
बोलत जल कुक्कुट कल हसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रशसा।
चक्रवाक बक खग समुदाई। देखत बनै बरनि नहिं जाई।
सुन्दर खग गण गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बुलाई।
ताल समीप मुनिन्ह गृह छाये। चहुँ दिशि कानन विटप सुहाये।
चम्पक बकुल कदम्ब तमाला। पाटल पनस पलास रसाला।
नव पल्लव कुसुमित तरु नाना। चञ्चरीक पटली कर गाना।
शीतल नन्द सुगन्ध सुभाऊ। सन्तत बहै मनोहर बाऊ।
कुहू-कुहू कोकिल धुनि करहों। सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरही॥"

प्राचीन कवियों ने सुन्दर मुख की चन्द्रमा से तुलना की है, किन्तु तुलसी अपनी सुप्रसिद्ध उक्ति में कहते हैं

"जन्म सिन्धु पुनि बन्धु बिष, दिन मलीन सकलक।
सिय मुख समता पाव किमि, चन्द्र बापुरो रक॥
घटै बढै बिरहिन दुखदाई। ग्रसै राहु निज सन्धिहि पाई।
कोक-शोक-प्रद पकज द्रोही। अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही।"

तुलसी के काव्य का एक बड़ा चमत्कार उनकी प्रवहमान भाषा है। इस भाषा की गति तरल और वेगमयी है, तथा इसका रूप सरल, सहज, मधुर और जन-सुलभ है। इसी भाषा के सहारे तुलसी इतनी सुगमता से भारतीय जनता के हृदय में पैठ सके। बरानिकौफ़ तुलसी की भाषा को उनका एक प्रमुख जनवादी तत्व मानते हैं। पुराने कवि 'भाषा' को राम-चर्चा के

लिए अनुपयुक्त समझते थे, किन्तु तुलसी ने राम-कथा को देवलोक से पृथ्वी पर उतारा। इस सम्बन्ध मे तुलसी कहते हैं :

"कवि कोविद अस हृदय विचारी। गावहिं हरिगुण कलिमल हारी।
कीन्हे प्राकृत जन गुण गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।"

और आगे चलकर :

"कलि के कविन करहुँ परनामा। जिन बरने रघुपति गुण-ग्रामा।
जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा जिन हरि चरित बखाने।"

ऐसी सरल और सुगम 'भाषा' में काव्य-रचना करके तुलसी ने भारतीय जनता का मानसिक और सास्कृतिक धरातल ऊँचा किया और इस प्रकार देश की प्राचीन सास्कृतिक परम्परा की धारा को पृथ्वी मे पूर्णतया लुप्त होने से बचाया। इस परम्परा में ऐसे तार लिपटे हुए हैं, जिन्हे आज हम कदापि स्वीकार नहीं कर सकते, किन्तु कोई देश अथवा राष्ट्र अपनी प्राचीन परम्परा से कटकर भी नहीं जी सकता।

जन-मन को स्पर्श करने के लिए तुलसी ने सूक्तियो से सम्पन्न भाषा का प्रयोग किया। यह सूक्तियाँ भारतीय मानस मे उसी तरह बस गई हैं, जैसे शेक्सपियर या मिल्टन की पक्तियाँ ब्रिटिश जाति की स्मृति में। यह सूक्तियाँ हमारी व्यावहारिक भाषा का अश बन गई हैं। विपत्ति के कठिन समय मे भारतीय जनता इनका प्रयोग करके शान्ति पाती है। ऐसी सूक्तियो का एक सकलन बा० श्यामसुन्दरदास ने किया था और वह 'मानस-सूक्तावली' के नाम से इडियन प्रेस से प्रकाशित हुआ था। इन सूक्तियो का नित्य-प्रति के जीवन मे हम निरन्तर व्यवहार करते हैं :

"नहिं कोऊ अस जन्मेउ जग माँही। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं।"
"परहित लागि तजै जो देही। सन्तत सन्त प्रशसहिं तेही।"
"जे परदोष लखहिं सह साखी। परहित घृत जिनके मन-माखी।"
"जे पर-भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं।"

"अउर करइ अपराध कोउ, अउर पाव फल-भोगु।
अति विचित्र भगवन्त गति, को जग जानइ जोगु।"

इस प्रकार तुलसी जन-भाषा में लिखकर जनता को अपनी विचार-धारा से प्रभावित करते रहे और आज भी करते हैं। भारत के इतिहास में उनका उदय अवश्य ही एक स्मरणीय घटना थी। अपने विषय में वे बहुत ही विनय रखते थे, यह भी उन्हीं की महानता के अनुरूप है। वह लिखते हैं .

"कवि न होउँ नहिं चतुर प्रवीना। सकल कला सब विद्याहीना।
आखर अर्थ अलंकृत नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुण विविध प्रकारा।
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिख कागद कोरे।"

किन्तु इतिहास उन्हें एक महाकवि के रूप में स्वीकार कर चुका है। इस सत्य को सभी मुक्त-कण्ठ से स्वीकार करेंगे। भारतीय संस्कृति की परम्परा में तुलसी एक अनमोल कड़ी हैं। इस उत्तराधिकार को अपनाकर ही हम विकास के पथ पर चल सकते हैं। तुलसी-साहित्य का वैज्ञानिक और ऐतिहासिक विश्लेषण उसके अन्तर्विरोधों को स्पष्ट करता है, किन्तु तुलसी को हमारी जनवादी परम्परा के एक महान् कवि के रूप में भी प्रगट करता है।

सूर

१

आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट नाम के स्थान पर एक टूटी-फूटी कुटिया है, जो सूरकुटी के नाम से प्रसिद्ध है। जी० आई० पी० रेलवे के एक छोटे-से वीरान स्टेशन पर उतर कर हम खेतो और करील के कुञ्जो के बीच से गुज़रते हुए गऊघाट पहुँचते हैं। इस निर्जन स्थान पर सावन में मेला जुडता है और तब आस-पास के गाँवो से यहाँ भारी भीड़ इकट्ठी होती है; अन्यथा, वर्ष-पर्यन्त अविकल भाव से यहाँ यमुना की उदास धारा मन्द गति से बहती रहती है, दो-एक घाट वाले स्नान और ध्यान में मग्न रहते हैं और भूले-भटके यात्री का स्वागत यमुना की प्रचुर सतान, कछुए ही करते हैं। गऊघाट मे यमुना के किनारे-किनारे ऊँचे-नीचे कगारो से एक पगडंडी झाड़-झखाड़ों के बीच होकर सूर-कुटी तक जाती है। यहाँ आप थके, भूखे-प्यासे, धूप से व्याकुल लगभग मध्याह्न के समय पहुँचते हैं और तुरन्त ही लौट पडने की चिन्ता रहती है, क्योंकि वापसी ट्रेन पकडनी होती है।

पता नहीं, यह निर्जन-वासी खंडहर सूर की कुटी है भी या नही, किन्तु यदा-कदा इसे देखने के लिए सूर-साहित्य के प्रेमी आते रहते हैं। सूर की जीवनी अनेक किम्वदन्तियों और दन्त-कथाओं के जाल में फँसी हुई है। इस जगल से सत्य को खोज निकालना दुष्कर है। जो-कुछ भी हो, आप पुराने मुगल-कालीन खँडहरों के समान लाल-पत्थर की जीर्ण-शीर्ण कुटी में अपने को पाते हैं। इस कुटी में किस प्रकार कोई रह सकता था, यह कल्पना करना भी कठिन है। शायद जिस स्थान पर सूर-कुटी स्थित थी, वहीं बाद की पीढियों ने यह कठोर प्रस्तर-स्मारक खड़ा किया था। कुटी की दीवारें यात्रियों के नामों से भरी हैं और इसके चारों ओर मानो महाशल्य का साम्राज्य है। कँटीली झाड़ियाँ, निर्जन वन-देश, दूर यमुना की पतली-धुँधली

रेखा, टूटे-फूटे कगार और झाड़-झखाड़ों के बीच से उतरता रास्ता। किन्तु किसी समय यही वन संगीत और कीर्तन की ध्वनि से मुखरित रहता होगा। आज यहाँ सर्वत्र नीरवता है, कभी ही कोई भूला-भटका यात्री यहाँ आ पहुँचता है। आज यहाँ यह कल्पना करना भी कठिन है कि वल्लभाचार्य, सूर और उनके सहगामियों का निवास-स्थान यह निर्जन, नीरव वन था।

सूर की महान् मानवतावादी परम्परा आज के भारत की श्री है। किस प्रकार हम अपने पूर्व-पुरुषों का सम्मान करते हैं, उनकी स्मृति की रक्षा करते हैं, यह अपने इतिहास के प्रति हमारे गम्भीर दृष्टिकोण की कसौटी है। इस सूर-स्मारक को झाड़-पोंछकर यहाँ सूर-साहित्य का संग्रहालय बनाना चाहिए। आगरा और मथुरा से यहाँ तक नियमित रूप से मोटर और रेल की सर्विस हो, कुछ खाने-पीने, नहाने आदि का ठीक प्रबन्ध हो और शिक्षित कर्मचारी यहाँ नियुक्त हों, जो आगन्तुक जनता को सूर की जीवनी और सूर के साहित्य का कुछ परिचय दे सकें।

इसी प्रकार हम अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा के प्रति अपनी वफादारी का परिचय दे सकते हैं। यह सरकार का काम है। पण्डितों का काम है कि इस परम्परा का अध्ययन करें, वैज्ञानिक दृष्टि से इसका मूल्यांकन करें, उसके प्रगतिशील, मानवतावादी तत्त्वों का संग्रह करें और जो तत्त्व जीवन की अग्रगामी गति में सहायक नहीं हैं, उन्हें अलग करें।

२

सूरदास तुलसी के पूर्ववर्ती थे। उनका जीवन-काल मिश्र-बन्धुओं और शुक्ल जी ने लगभग १५४० संवत् से १६२० तक माना है, और डा० बेनीप्रसाद ने १५४५ से १६२५ तक। सूर वल्लभाचार्य के शिष्य थे और उनका लीलाधाम ब्रज-मंडल था। उनके ग्रन्थों में तीन का परिचय मिलता है। इनमें प्रमुख 'सूर-सागर' है। इसकी रचना सूर ने लगभग ६७ वर्ष की अवस्था में समाप्त की। अन्य दो ग्रंथ हैं 'सूर सारावली' और 'साहित्य-लहरी'। दो और ग्रन्थों के नाम भी मिलते हैं, किन्तु वे केवल नाम हैं।

किम्वदन्तियो के अनुसार 'सूर-सागर' मे एक लाख पद थे, किन्तु बा० राधाकृष्णदास द्वारा सकलित 'सूर-सागर' में, जो वैंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हुआ था, ४०१८ पद हैं।

सूर सगुण धारा की कृष्ण-शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। जन-चेतना पर सूर की प्रतिमा का कितना प्रभाव था, यह हम इससे अनुमान लगा सकते हैं कि लोक-प्रचलित पदों में सूर की तुलना सूर्य से की गई है और तुलसी की चन्द्र से। एक पद, जिसके लेखक तानसेन भी कहे गये हैं, इस प्रकार है :

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर को पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल सरीर॥

एक और पद इस प्रकार है :

उत्तम पद कवि गग के, कविता को बलबीर।
केशव अर्थ गँभीर को, सूर तीन गुन धीर॥

सूर की तुलना में आज सभी पडित तुलसी को बड़ा कवि मानते हैं। तुलसी ने जीवन का सर्वतोमुखी चित्रण किया है। वह महाकाव्यकार थे। सूर ने जयदेव और विद्यापति की परम्परा में गीति-काव्य की शैली अपनाई थी। उन्होने जीवन के दो ही अश अपने काव्य में प्रतिष्ठित किये, बाल्यकाल और यौवन, किन्तु इनका सागोपाग वर्णन सूर ने किया। शुक्ल जी तुलसी से सूर की तुलना करते हुए कहते हैं :

"इन कृष्ण-भक्त कवियों के सम्बन्ध मे यह कह देना आवश्यक है कि ये अपने रग मे मस्त रहने वाले जीव थे; तुलसीदास जी के समान लोक-सग्रह का भाव इनमे न था। समाज किधर जा रहा है, इस बात की परवा ये नहीं रखते थे[१]..."

यह सच है कि तुलसी के समान तीव्र सामाजिक चेतना सूर-साहित्य में नहीं मिलती, किन्तु यह कहना भी ग़लत होगा कि कृष्ण-शाखा के कवि समाज के प्रति पूर्ण रूप से उदासीन थे। समाज में रहना और उसके प्रभाव

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १६४

से बचे रहना सर्वथा असम्भव है। सूर-साहित्य में अनेक स्थानों पर हम सामाजिक सम्बन्धों में पाखण्ड और क्रूरता के प्रति तीव्र आघात पाते हैं।

डॉक्टर देवराज ने भी लिखा है कि 'समाजशास्त्रीय आलोचना सूर के साहित्यिक महत्त्व का उद्घाटन नहीं कर सकती।'[1] सामाजिक जीवन और उससे उद्वेलित और प्रभावित व्यक्ति के जीवन-द्वन्द्वों में जो कवि जितना गहरा पैठ सका है, उतना ही मर्मस्पर्शी और प्रभावशाली साहित्य वह रचेगा। यह सम्भव है कि व्यक्तिगत जीवन पर ही कलाकार की दृष्टि केन्द्रित हो, किन्तु आलोचक यह नहीं भूल सकता कि व्यक्ति का जीवन सामाजिक द्वन्द्वों से निरन्तर प्रभावित होता है। सचेत रूप से सूर भी शायद सामाजिक द्वन्द्वों के प्रति उदासीन रहे हों, किन्तु उनके काव्य पर समकालीन परिस्थितियों की छाप अवश्य है।

'भक्ति-काल' के कवियों का दृष्टिकोण सामाजिक है, इसे अस्वीकार करना असम्भव है। सामाजिक पीड़ा के स्रोत से फूटकर उनके काव्य की धारा निकली है और निरन्तर उन्होंने इस जगत् के पाखण्डों और कुरीतियों पर दृष्टिपात किया है। उनके समय के सामाजिक संघर्ष का स्पष्ट प्रतिबिम्ब उनके साहित्य में है। सत्संग की महिमा यह कविगण गाते हैं, कलि के दुःखों से पार पाने की कामना अपने काव्य का ध्येय बनाते हैं। उनका मानवतावाद समाज के सामने उज्ज्वलतम आदर्श रखने की प्रेरणा उन्हें देता है। उस युग के संघर्ष में भक्त-कवि भारतीय जनता के प्रतिनिधि थे, उसके हिरावल थे। खुले रूप से यह संघर्ष उस काल की शासन-व्यवस्था के विरुद्ध न था, किन्तु उन सभी सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं पर, जो इस व्यवस्था का मूल आधार थीं, यह सन्त-साहित्य एक मर्म-प्रहार अवश्य था। नीच-ऊँच का भेद, गरीब-अमीर का भेद, हिन्दू-मुसलमान का भेद—यह सब दुराव भक्त-कवियों के दरबार में नहीं चलते। हरि के यहाँ तो 'हरि को भजै, सो हरि का होई।'

---

१ आलोचना, प्रथम अंक, पृष्ठ ४३

अनेक अन्तर्द्वन्द्व और अन्तर्विरोध सन्त-कवियों के विचार-दर्शन में पाये जाते हैं। इस क्रूर कलि-काल की पीड़ा से त्राण वे भगवद्भक्ति में देखते हैं। तुलसी के विचार-दर्शन पर ब्राह्मण्यवाद की भी गहरी छाप है, जिसका उपयोग शासक वर्ग करता रहा है। आज के सांस्कृतिक संघर्ष का एक यह भी पक्ष है कि तुलसी-साहित्य के प्रगतिशील तत्वों को हम जनता के सामने उभार कर रक्खें और तुलसी की परम्परा का उपयोग प्रतिक्रियावाद द्वारा रोकें।

सन्त-साहित्य की विचार-धारा मूलतः मानवतावादी विचार-धारा है, यद्यपि यह वैज्ञानिक विचार-धारा नहीं है। सगुण-उपासना की परम्परा शंकर के मायावाद के विरोध में प्रतिष्ठित हुई थी। शंकर का दर्शन इस संसार को मिथ्या और माया मानता है, इसके विरोध में रामानुज ने भक्ति-मार्ग की परम्परा चलाई, जो ईश्वर को भी मनुष्य-रूप में देखती है, ईश्वर की लीलाओं की आड़ में मानव-जीवन की लीलाओं का वर्णन करती है और अपने साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक-जीवन से जोड़ती है। शंकर के अद्वैत की तुलना में भक्त-कवियों का विचार-दर्शन प्रगतिशील, मानवतावादी और एक सीमा तक इहलोकमुखी है। इसी परम्परा का विकास और उसकी प्रौढ़ साहित्यिक अभिव्यक्ति हम सूर के काव्य में पाते हैं।

३

'सूर सागर' के आरम्भिक पदों में सूर बार-बार कहते हैं कि हरि के सामने 'जात, गोत, कुल' आदि का भेद नहीं टिकता। सज्जनों के संग की महिमा वे गाते हैं। तीर्थ, व्रत, नियम आदि से वह हरि-भजन को अच्छा समझते हैं। पाखण्ड और ऊपरी आचार के सामने भावनाओं और सचाई का महत्त्व वे बहुत अधिक मानते हैं। इन्हीं बातों को कबीर अपनी विद्रोही शब्दावली में कहते हैं और अमोघ शक्ति के समान उनके स्वर की चोट है।

पहले ही पद में सूर समाज के अभिशप्त अंग की हित-कामना करते हैं :

"जाकी कृपा पगु गिरि लघै, अंधे का सब कुछ दरसाई।
बहिरो सुनै, मूक पुनि बोले, रक चलै सिर छत्र धराई।."

इन भावनाओं की अभिव्यक्ति हम सभी भक्त-कवियों में पाते हैं। आगे सूर कहते हैं .

"राम भक्त-वत्सल निज बानो
जाति, गोत कुल नाम गनत नहि, रक होय के रानो।[१]"

तुलसी 'विनय-पत्रिका' में कहते हैं

"श्री रघुवीर की यह बानि।
नीचहूँ सो करत नेह, सुप्रीति मन अनुमानि॥
परम अधम निषाद, पाँवर कौन ताकी कानि।
लियो सो उर लाइ सुत ज्यों, प्रेम की पहिचानि॥"

अवहेलना का जो एक अन्त:स्वर तुलसी के पद में है, सूर में वह नहीं है। उपरोक्त पद से अगले में ही सूर फिर लिखते हैं .

"काहू के कुल तन न विचारत।
अविगत की गति कहत न आवै, व्याध अजामिल तारत।

कौन धौं जाति अरु पाँति विदुर की, ताही के गृह हरि पग धारत।[२]" द्वितीय स्कध के दूसरे पद में सूर तीर्थ, जप, नियम आदि मे भक्ति की महिमा अधिक बताते हैं

"जो सुख होत गोपालहिं गाए।
सो नहिं होत जप तप के कीने, कोटिक तीरथ न्हाए।"

सूरदास बार-बार कहते हैं कि कलि में हरि-नाम ही 'अधार' है। इसी प्रकार दुर्जनों का सग त्यागने का आदेश भी सूर ने बड़े मर्मस्पर्शी शब्दों में दिया है .

---

१ सक्षिप्त सूर सागर, इण्डियन प्रेस : प्रथम स्कध पद ११
२. पद १२

"छाँडि मन हरि-विमुखन को संग।
जिनके सग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग॥
कहा होत पय पान कराए, विष नहिं तजत भुजग।
कागहि कहा कपूर चुगाए, श्वान न्हवाए गंग।

× × × ×

'सूरदास' खल कारी कामरि, चढ़त न दूजो रग॥[1]"

मिश्रबधुओ ने सूर साहित्य की इस विशेषता की ओर ध्यान दिलाया है।[2] सूर के काव्य-दर्शन में सन्त-साहित्य की जनवादी परम्परा पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हुई है। इसके और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। किन्तु यह भी सच है कि सूर प्रधानतयः प्रेम के कवि हैं और मुख्यत: इसी विषय का विस्तार उनके साहित्य मे हुआ है।

सूर ने श्रीमद्भागवत् के कृष्ण का वर्णन अपने गीतों में किया है, इसमें भी विशेष रूप से दसवें स्कंध पर उन्होंने अपनी काव्य-प्रतिमा केन्द्रित की है। 'महाभारत' अथवा 'गीता' के श्रीकृष्ण सूर के पात्र नहीं हैं। बाल कृष्ण और तरुण कृष्ण का ही बहुत विस्तृत वर्णन 'सूर सागर' में हुआ है।

यद्यपि कवि के लिए कृष्ण की लीला प्रभु की लीला है, फिर भी मानव-जीवन के ही अनेक चित्र-विचित्रित, स्वाभाविक, सजीव और मार्मिक वर्णन 'सूरसागर' में हमें मिलते हैं। किस प्रकार कृष्ण अपनी माँ को खिझाते हैं, अन्य बालको से लडते हैं, दूध पीने में आनाकानी करते हैं, अपनी चोटी बढाना चाहते हैं, वात्सल्य के इन भावो का जैसा प्रभावशाली चित्रण सूर में है, वह तुलसी में भी नहीं। इसी प्रकार वियोग और सयोग श्रृङ्गार का अपूर्व प्रवाह इस रस-सागर में हुआ है। अन्त में निर्गुण और सगुण उपासना से सम्बन्धित उद्धव और गोपियों के बीच हृदय को स्पर्श करने वाली

---

१. प्रथम स्कंध, पद ११
२. 'हिन्दी-नवरत्न' द्वितीय संस्करण, पृ० १७२

एक वार्ता है, जिसमें हम अनन्य प्रौढ़ता, मार्मिकता और भावनाओं की गहराई पाते हैं। तीव्रतम अनुभूति, भावों का यथार्थ चित्रण और मनोदशाओं की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति इन गीतों में निरन्तर मिलती है। उद्धव और गोपियों की वार्ता तो आँसुओं का पारावार साथ लाई है।

सूर ने जयदेव और विद्यापति की गीत-काव्य की परम्परा अपनाई है। गीत किसी एक भावना, किसी एक तत्काल उड़ जाने वाले क्षण को बाँधकर रख लेता है। सूर के अनुभूतियों में डूबे और रँगे गीत पाठक को भावनाओं के किसी अद्भुत विकल संसार में पहुँचाते हैं, जहाँ वह असहाय डूबता-उतराता है। यह गीत अनमोल रत्नों की माला हैं और हिन्दी-काव्य का शृङ्गार हैं। उनमें स्वस्थ मानव का चित्रण है और उनके अध्ययन से पाठक की भावनाएँ परिष्कृत होती हैं। सूर की शृङ्गार-परम्परा रीतिकालीन कवियों के साहित्य में ह्रास के पथ पर पहुँचती है, वह अस्वस्थ, निर्जीव रूढ़ि-मात्र रह जाती है जो सामन्तों और दरबारियों की कामुकता सन्तुष्ट करने का साधन बनती है। जीवन-पथ की संगिनी काव्य-परम्परा शीशमहल में पहुँचकर अनन्य उल्लास से विलोड़ित और तरंगित जीवन को भूल जाती है। वह राजदरबारियों की चेरी और वारवधू बन जाती है।

सूर का शृङ्गार-वर्णन और अन्य लीलाओं का दिग्दर्शन मानव-जीवन का ही वर्णन है। सूर ने कृष्ण को ईश्वर के रूप में कम देखा है, सखा के रूप में अधिक। तुलसी के राम 'साहिब' हैं, 'गरीबनेवाज़' हैं, 'अशरण शरण' हैं, तुलसी उनके अनुचर हैं, दास हैं, नीचों से भी नीच हैं, वह अधम, पातकी, कीट, पतंग हैं। तुलसी-कृत राम-कथा निरन्तर आपको स्मरण दिलाती है कि वह मनुष्य का जीवन-वृत्त नहीं है, वह ईश कथा है। 'सूर-सागर' आपको बाल्य काल और यौवन के सहज, स्वाभाविक जग में पहुँचाता है। मिश्र बन्धुओं ने सूर के 'सखा-भाव' की तुलना तुलसी के 'दास-भाव' से की है,[1] किन्तु शुक्लजी की आत्मा इस तुलना से

---

१. 'हिन्दी नवरत्न' पृष्ठ १७४-१७५

सतप्त हुई है, और 'भ्रमरगीत' की भूमिका में उन्होंने इस आरोप का उत्तर दिया है।[1]

तुलसी का राम से 'साहिब' और 'दास' का सम्बन्ध उनकी अतिशय राज-भक्ति का भी परिचायक है। तुलसी सदैव याद रखते हैं कि राम रघुवंश की संतान हैं। उनके विचार-दर्शन में एक हद तक बाइबिल वाली भावना वर्तमान है: "जो सीजर का है, वह सीजर को दो।" सूर निरन्तर भूलते रहते हैं कि उनके सखा सूर-श्याम राजवंश की उपज हैं। सूर की दृष्टि में राज-दरबारों के प्रति अद्भुत उदासीनता का भाव है। न केवल सूर-साहित्य में हमें तुलसी के अन्तर्विरोध कम मिलते हैं, वरन् कुछ दिशाओं में हम सूर का दृष्टिकोण अधिक मानवतावादी और जनवादी पाते हैं। इसका एक उदाहरण उनका कृष्ण के प्रति सखा-भाव भी है।

४

सन्त-कवियों में से अनेक कबीर और रैदास की भाँति जीवन के निम्नतम अभिशप्त और बहिष्कृत वर्गों की उपज थे। उनकी विद्रोही भावना इसी भूमि से फूटी थी। यह कवि विलास और ऐश्वर्य के माया-मोह से मुक्ति पा चुके थे, और राज-दरबारों से मुँह मोड़ चुके थे। जिस सामाजिक पीड़ा से द्रवित होकर वह सन्त बने, उसी ने उन्हें कवि भी बनाया। उनके काव्य में कोई बनावट और शृङ्गार नहीं है, वह उनके हृदय की सच्ची वाणी है।

जीवन में गले तक डूबकर और सच्ची अनुभूति पाकर ही सूर की प्रेरणा पल्लवित और पुष्पित हुई है। एक किम्वदन्ती है[2] कि सूर के मृत्यु-काल में तुलसी उनसे आकर मिले। किसी ने सूरदास से पूछा: "आपने अपने गुरु का कोई पद क्यों नहीं बनाया?" उन्होंने उत्तर दिया: "मैंने सब पद गुरु जी ही के बनाये हैं; क्योंकि मेरे गुरु और श्री कृष्णचन्द्र में कोई भेद नहीं है।" फिर भी उन्होंने एक पद रचा:

---

१. 'भ्रमर-गीत-सार', पृष्ठ ४४-४५

२. 'हिन्दी नवरत्न', पृष्ठ १६८-१६९।

"भरोसो दृढ इन चरणन केरो,
श्री वल्लभ-नख-चद छटा बिनु, सब जग माँझ अँधेरो।
साधन और नहीं या कलि में, जासों होत निवेरो,
'सूर' कहा कहि दुविधि आँधरो, बिना मोल को चेरो।"

कहते हैं कि अन्त में सूर ने एक भजन कहा जिससे उनके नेत्रों में जल आ गया। गोस्वामी जी ने पूछा . "सूरदास जी, नेत्र की वृत्ति कहाँ है?" सूरदास ने नेत्रों पर यह अमूल्य गीत रचा और शरीर छोड़ दिया

"खजन नैन रूप रस माते,
अतिसै चारु, चपल, अनियारे, पल-पिजरा न समाते।
चलि-चलि जात निकट स्रवननि के, उलटि, उलटि ताटक फँदाते,
'सूरदास' अजन गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते।"

बड़े तल्लीन होकर सूर ने काव्य-रचना की है। यही उनकी मार्मिकता, प्रौढता और काव्य-विदग्धता का रहस्य है। अनुभव, सत्य और यथार्थ की पाठशाला में सूर ने कविता लिखना सीखा था। कहते हैं कि सूरदास किसी स्त्री पर आसक्त हो गए थे, अपने ऊपर क्षुब्ध होकर उन्होंने अपनी आँखें फोड लीं। यह घटना सच हो या न हो, इतना तो है ही कि सूर की अनुभूति बड़ी सच्ची और तीव्र थी। अनेक आलोचकों ने यह भी कहा है कि सूर के वर्णन इतने सजीव हैं कि वह जन्म के अन्धे कभी नहीं हो सकते। उन्होंने अवश्य ही इस ससार की सुन्दरता को प्रत्यक्ष देखा था, उसके सुख-दुख सहे थे और उन्हीं स्मृतियों को उन्होंने अपने काव्य की गगा में प्रवाहित किया है।

प्रेम की अस्थिरता को लक्ष्य करके सूर कहते हैं

"प्रीति कर काहू सुख न लह्यो,
प्रीति पतग करी दीपक सों, अपनी देह दह्यो।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों, सम्पति हाथ गह्यो,
सारग प्रीति जु करी नाद सों, सनमुख बान सह्यो।

हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यो,
'सूरदास' प्रभु बिनु दुख दूनो नैननि नीर बह्यो।"

जीवन की अनुभूत पीड़ा का यह स्वर कवि को कोई कला नहीं सिखा सकती। इसीलिए रीतिकालीन कवियों का शृङ्गार-वर्णन सूर के सामने इतना फीका है। जीवन के अनेक तार सूर के राग में प्रतिध्वनित और मुखरित हुए हैं। इनमें सर्वोत्तम वियोग-शृङ्गार के वर्णन हैं; क्योंकि इन पदों में जीवन की अनन्य पीड़ा व्यक्त हुई है। वियोग की पीड़ा के अतिरिक्त भी सूर जीवन की व्यथा के अनेक क्षण जानते हैं। वह लिखते हैं .

"सबै दिन एक से नहि जात।
सुमिरन ध्यान कियो करि हरि को, जब लगि तन कुसलात॥
कबहूँ कमला चपला पाके, टेढे टेढे जात।
कबहुँक मग मग धूरि टटोरत, भोजन को बिलखात॥
या देही के गर्व बावरो, तदपि फिरत इतरात।.[1]"

सूर का बाल-लीला-वर्णन बहुत सुन्दर और स्वाभाविक है। बालक कृष्ण माखन चुराकर खाते हैं, माँ उन्हें ऊखल से बाँध देती है। वह दूध पीना नहीं चाहते, माँ लालच देती है कि दूध पीने से चोटी बढ़ेगी। यशोदा कहती हैं :

"कजरी को पय पिअहु लाल तेरी चोटी बढ़ै।
सब लरिकन मे सुन सुन्दर सुत तो श्री अधिक चढै॥
जैसे देखि और ब्रज-बालक, त्यों बल बैस बढ़ै।[2]"

कृष्ण पूछते हैं :

"मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पिबत भई, यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहत बल की वेनी ज्यों, ह्वैहै लाँबी, मोटी।

---

१. द्वितीय स्कन्ध, गीत २२
२. दशम स्कन्ध, पूर्वार्द्ध गीत १५३

काढत, गुहत, न्हावत ओंछत, नागिनि-सी भ्वैं लोटी ॥
काचो दूध पिवावत पचि पचि, देत न माखन रोटी ।[1]"

बालक कृष्ण खेलने जाते हैं। गाय चराने के लिए वह ज़िद करते हैं। बलराम उन्हें चिढाते हैं—तुम काले हो, नन्द और यशोदा गोरे हैं, वह तुम्हारे माँ बाप नहीं हैं, तुम्हें उन्होने कुछ पैसे देकर खरीदा है .

"मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो ।
मोसों कहत मोल को लीनो, तोहि यशुमति कब जायो ॥
कहा कहौं एहि रिस के मारे, खेलन हू नहिं जात ।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरो तात ॥
गोरे नन्द, यशोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर ।
तारी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर ॥"[2]

इसी प्रकार कृष्ण-लीला के अनेक सजीव चित्र सूर ने खींचे हैं। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों और यशोदा के शोक का अत्यन्त हृदय-द्रावक वर्णन सूर ने किया है। इस सम्बन्ध में उनका निम्न लिखित गीत बहुत प्रसिद्ध है .

"बिनु गोपाल बैरिन भई कुञ्जैं ।
जे वै लता लगत तनु शीतल, अब भई विषम अनल की पुञ्जैं ।
वृथा बहुत यमुना-तट खगरो, वृथा कमल फूलनि अलि गुञ्जैं ॥"[3]

इसी प्रकार के अनेक गीत सूर गहरी भावना के प्रवाह में लिखते गए हैं। गोपियाँ कहती हैं :

"बटाऊ होहिं न काके मीत ।"[4]

अथवा—

"कहा परदेशी को पतियारो ।
प्रीति बढाय चले मधुबन को, बिछुरि दियो दुख भारो ॥"[5]

---

१ गीत १५४   २ गीत १८८   ३. गीत २७२१
४ गीत २७३१   ५. गीत २७३२

गोपियाँ उद्धव से योग के विरुद्ध बहस करती हैं :

"जोग टगौरी ब्रज न बिकैहै।
यह ब्योपार तिहारो ऊधो, ऐसोई फिरि जैहै।
जापे ले आए हो मधुकर ताके उर न समैहै॥
दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहै॥"[1]

अनेक गीतों में ऐसी व्यथा है, जो हिन्दी-काव्य में अन्यत्र शायद ही मिल सके। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं :

"ऊधो! मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो हरि के सग को आराधै ईस?"[2]

अथवा—

"निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै, जब ते स्याम सिधारे॥
दृग-अंजन लागत नहि कबहूँ, उर-कपोल भये कारे।
कचुकि नहि सूखत सुनु सजनी, उर-बिच बहुत पनारे॥[3]

'सूर सागर' के यह हृदय-द्रावक स्थल अवश्य ही हिन्दी-साहित्य में वियोग-शृङ्गार के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस प्रकार की काव्य-रचना बिना जीवन का तल-दर्शी अनुभव किये और दुःसह, दारुण पीड़ा सहे असम्भव है। मानव-हृदय के करुणतम उद्गार सूर के इन पदों में व्यक्त हुए हैं।

अपने वर्णन में सूर कहीं-कहीं अश्लील भी हो गए हैं, किन्तु यह अश्लीलता कामुक की विलासिता से सर्वथा भिन्न है। वर्णन के प्रवाह में कवि बहता चला जाता है और स्वस्थ मानव की चंचलता-मात्र ऐसे स्थल कहे जायँगे। कहीं-कहीं परम्परागत रूढ़ वर्णन भी सूर में मिलते हैं, उदाहरण के लिए .

---

१. 'भ्रमर-गीत-सार' गीत २४ २. भ्रमर-गीत-सार, गीत २१०
३. गीत ३१६

"अद्‌भुत एक अनूपम बाग।"

किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं।

सूर ने नेत्रों के प्रति भी बहुत मर्मस्पर्शी पद लिखे हैं। अधिकतर नेत्रों की निन्दा ही इन पदों में की गई है। यह नेत्र अपने वश में नहीं हैं, निरन्तर ही यह बरसते रहते हैं। गोपियाँ कहतीं हैं

"तुम्हरे विरह, ब्रजनाथ, अहो प्रिय! नयनन नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष-कूल दोऊ, एते मान चढ़ी॥[1]"

यही भाव सूर ने अनेक गीतों में व्यक्त किया है.

"नैन घट घटत न एक घरी।
कबहुँ न मिटत, सदा पावस ब्रज लागी रहत झरी॥
विरह इन्द्र बरसत निशि बासर, इहि अति अधिक करी।[2]"

अथवा—

"नैननि होड़ बदी बरषा सौं।
राति दिवस बरसत झर लाए, दिन दूरी करखा सौं॥
चारि मास बरसे जल खूटे, हारि समुझि उनमानी।
एतेहू पर धार न खडित, इनकी अकथ कहानी॥[3]"

ब्रज-बालाओं ने उद्धव से जो बहस की है, उसमें उनके शोक और संतोष की गहरी छाया है और इस जीवन की आशा-आकांक्षाओं के प्रति तीव्र आग्रह है। वह योग और निर्गुण विचार-धारा को कोई महत्त्व नहीं देतीं। उद्धव से वे पूछती हैं·

"निर्गुन कौन देश को बासी?
मधुकर! हँसि समुझाय, सौंह दे बूझति साँच, न हाँसी।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी?
कैसो बरन, भेस है कैसो, केहि रस में अभिलासी?[4]"

---

१ भ्रमर-गीत-सार, गीत २८६ ३. संक्षिप्त सूर सागर गीत ३४५७
२ संक्षिप्त सूर सागर गीत ३४५५ ४ भ्रमर-गीत-सार, गीत ६४

सूर-सागर की सम्पूर्ण धारा का आग्रह समाज के व्यापारों के प्रति है, और योग, माया आदि धारणाओ पर उनके साहित्य का तीव्र प्रहार है। गोपियाँ उद्धव से पूछती हैं :

"हमरे कौन जोग व्रत साधै ?
मृगत्वच, भस्म, अधारि, जटा को को इतनो अवराधै ?
जाकी कहूँ थाह नहिं पैए, अगम, अपार, अगाधै ।
गिरिधर लाल छबीले मुख पर, इते बाँध को बाँधै ?
आसन पवन विभूति मृगछाला, ध्याननि को अवराधै ?
'सूरदास' मानिक परिहरि कै, राख गाँठि को बाँधै ?[1]"

यह जीवन मिथ्या है, यह ससार असार है, इस विचार-दर्शन के प्रति आस्था तोडने और जीवन मे आस्था प्रतिष्ठित करने के लिए ही मानो सूर-सागर की रचना हुई थी । कवि का लक्ष्य जो भी रहा हो, उसके काव्य से मनुष्य की जीवन मे आस्था बढ़ती है, उसकी भावनाएँ परिष्कृत होती हैं, उसकी मानवता निखरती है।

५

'सूर सागर' मे कवि ने प्रकृति का भी अपूर्व चित्रण किया है। इन चित्रों में वर्षा का, रात का, अँधेरे का, बादलो का प्राधान्य है। 'सूर सागर' मे वियोग शृङ्गार की प्रमुखता है, इसलिए आँसुओं के पावस की भी प्रचुरता है। प्रकृति का यह चित्रण अनुभूति से अतिरजित है, कवि ने रूढ़ि का, परम्परा का अनुगमन अपने वर्णनों में बहुत कम किया है । सूर की प्रेरणा हमे व्रज के कुञ्जों में पहुँचाती है, जहाँ यमुना अवसाद में डूबी उदासीन बह रही है और कृष्ण की मुरली की प्रतिध्वनि अब भी निनादित है।

गोवर्द्धन-लीला के सम्बन्ध मे भी सूर ने बादलो का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त क्रूर शासन-व्यवस्था से आतकित व्रजवासी सावन-भादो की अँधियारी से घबराते हैं :

---

१. भ्रमर गीत सार, गीत २७

"भादों भर की राति अँधियारी।
द्वार कपाट कोट भट रोके, दशहूँ दिशि कस भय भारी॥
गर्जत मेघ महा डर लागत, बीच बढ़ी यमुना जल कारी।
तब ते इहै शोच जिय मोरे क्यों दुरिहैं शशि बदन उज्यारी॥[1]"

विरहिणी ब्रज-बालाओं को तो पावस की अँधेरी से और भी डर लगता है:

"पिया बिनु साँपिनि कारी राति।
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जाति॥[2]"

इस पद का अर्थ शुक्ल जी इस प्रकार समझाते हैं: "साँपिन की पीठ काली और पेट सफ़ेद होता है। ऐसा प्रसिद्ध है कि वह काटकर उलट जाती है, जिससे सफ़ेद भाग ऊपर हो जाता है। बरसात की अँधेरी रात में कभी-कभी बादलों के हट जाने से जो चाँदनी फैल जाती है, वह ऐसी ही लगती है।[3]"

कितना गहरा और व्यापक 'आँधरे सूर' का अनुभव था, और कैसी तल-दर्शिनी दृष्टि उनकी थी। ऐसी महान् प्रतिभा के सामने आलोचक और पाठक केवल अपना शीश झुका सकता है।

बादल से गोपियाँ हरि के पास सन्देशा भी पठाती हैं। ऐसे पदों को पढ़कर कालिदास के 'मेघदूत' की याद आती है.

"हरि परदेश बहुत दिन लाए,
कारी घटा देखि बादर की नैन नीर भरि आए।
बीर बटाऊ पथी हो तुम, कौन देस ते आए!
यह पाती हमरी लै दीजो, जहाँ साँवरे छाए।[4]"

'सूर सागर' में प्रकृति की अनेक मुद्राओं के वर्णन हैं। इन गीतों में हम ऋतुओं के अनेक परिवर्तन देखते हैं, रात और दिन के विविध क्षण पाते

१. संक्षिप्त सूर सागर, दशम स्कंध, गीत ७
२ 'भ्रमर-गीत-सार' भूमिका पृष्ठ २६
३. 'भ्रमर-गीत-सार' भूमिका पृष्ठ २५-२६
४. 'हिन्दी नवरत्न' द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५६४-५६५

हैं। हर्ष और विषाद के अनेक भाव हमें यहाँ मिलते हैं। विषाद की प्रगाढ़ अँधियारी के बाद प्रभात का आलोक और उल्लास इस पद में देखिए :

"जागिए गोपाल लाल ग्वाल द्वार ठाड़े।
रैनि-अंधकार गयो, चन्द्रमा मलीन भयो, तारागण देखियत नहिं,
तरणि किरणि बाढ़े ॥
मुकलित भए कमलजाल, गुञ्ज करत भृङ्गमाल प्रफुलित वन पुहुप
डार, कुमुदिनि कुँभिलानी !
गंधर्व गुण गान करत, स्नान दान नेम धरत, हरत सकल पाप,
पढ़त विप्र वेद वानी ॥"[1]

सूर की कला की प्रौढ़ता इन उद्धरणों से विदित है। उन्होंने जीवन-अनुभव की तीव्र प्रेरणा से अपनी कला को सजाया है। रीतिकालीन कवियों की भाँति शास्त्र और परम्परा उनका अवलम्ब नही हैं। उनके काव्य के अलंकार बाहर से आरोपित नहीं हुए, वह उनकी प्रेरणा की अग्नि में गल कर निकले हैं। सूर के संगीत की माधुरी, उनकी भाषा की सहज स्वाभाविकता, उसका मिठास सूर के काव्य की प्राण-ज्योति है। इन्हीं गुणों के कारण सूर इतने लोकप्रिय हुए हैं। सूर के संगीत और भाषा की प्रौढ़ मधुरिमा और सहजता उनकी प्रेरणा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। सूर ने मँझी ब्रजभाषा का अपने पदों में प्रयोग किया है, संगीत की लहरी में उसे प्रवाहित किया है; अपने पदों को उन्होंने खराद पर चढ़ाकर तराशा है।

सूर के गीत पाठक अथवा श्रोता की स्मृति पर अनायास ही चढ़ जाते हैं। यद्यपि सूर इतने लोकप्रिय कभी नहीं हुए, जितने तुलसी हैं, तुलसी से कुछ ही कम लोकप्रिय उनके गीत हैं। तुलसी की तुलना में सूर में काव्य-विदग्धता कुछ अधिक ही है, किन्तु उनकी कला में तुलसी की-सी व्यापकता और सार्वभौमिकता नहीं है। जीवन के कुछ ही अंश सूर ने छुए हैं, किन्तु जो भी अंश उन्होंने छुए हैं, उन्हें काव्य की पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है।

सन्त-कवियों की कला से आज का प्रगतिशील कलाकार जनता के हृदय

---

१. संक्षिप्त सूर सागर दशम स्कन्ध २३२०.

तक पहुँचने का रहस्य पा सकता है। तुलसी और सूर की वाणी जीवन के पथों और गलियारों में व्याप्त है। इस वाणी में जनवादी तत्व मुखर हैं, किन्तु इनके साथ अनेक विरोधी तत्व भी लिपटे हुए हैं। सन्त कवियों की जनवादी परम्परा को विकसित करके नए स्वर हमें इन पथों और गलियारों में व्याप्त करते हैं। किस प्रकार यह हम करें, तुलसी, सूर और कबीर की परम्परा से हमें सीखना है।

सूर-साहित्य की अपनी अनेक सीमाएँ हैं। सूर का विचार-दर्शन सामाजिक यथार्थ के प्रति सचेत प्रतिक्रिया नहीं है। यह दूसरी बात है कि किसी भी कलाकार के लिए सामाजिक यथार्थ से बचना असम्भव है। सामाजिक यथार्थ निरन्तर सूर के साहित्य मे व्यक्त हुआ है। सूर ने अपने काव्य को ऐसी कथा मे बाँधा है, जिसमे कपोल-कल्पनाएँ, दन्त-कथाएँ और रूढ़ियाँ व्याप्त थीं। सहस्रों गोपियों की एक ही पुरुष के साथ प्रेम-लीला किसी आध्यात्मिक रूपक के आधार पर ही समझाई जा सकती थी। सूर ने अपनी दृष्टि जीवन के प्रेम-सम्बन्धी तत्त्वों पर ही डाली है। यह उनके साहित्य की आवश्यक और स्वाभाविक सीमाएँ हैं। किन्तु सूर का दृष्टिकोण मूलत. मानवतावादी दृष्टिकोण भी है। उनके पद मानव-जीवन की तीव्रतम अनुभूति में तपकर निकले हैं। सूर का शृङ्गार स्वस्थ प्रेम प्रदर्शित करता है, विरह, मिलन, व्यथा और तुष्टि के अमूल्य क्षण उनके काव्य में सुरक्षित हैं। रीतिकालीन कविया की तुलना में हम सूर के प्रेम-वर्णन की गंगा का स्वच्छ और निर्मल प्रवाह भली-भाँति हृदयगम कर सकते हैं। सूर के वर्णन हमारी मानवता को परिष्कृत करते हैं और उच्चतर स्तर तक ले जाते हैं। सूर हिन्दी-साहित्य की मानवतावादी परम्परा में एक अनमोल कड़ी हैं। आज का प्रगतिशील लेखक इस परम्परा का दायित्व आदर, स्नेह और यत्न से अपनाता है।

तुलसी, सूर और कबीर—इन सन्त-कवियो की कविता-धारा की त्रिवेणी हिन्दी-साहित्य की मूल्यवान परम्परा है। इस त्रिवेणी में स्नान करके आज का साहित्य-यात्री अपने गन्तव्य स्थान तक आसानी से पहुँच सकता है।

कबीर

भारतीय सन्त-साहित्य हमारी परम्परा की अनुपम और अद्भुत निधि है। इस साहित्य में तत्कालीन भारतीय समाज के अन्तर्द्वन्द्वों का सम्पूर्ण इतिहास निहित है। मध्यकालीन भारत अनेक विजातीय शासकों के युग का भारत है। इन शासकों और पूर्व विदेशी आक्रमणकारियों में एक अन्तर यह था कि यह भारतीय परम्परा के साथ घुल-मिल न सके थे, इनके आचार-विचार, संस्कृति, भाषा, वेश-भूषा भारतीय जनता के परम्परागत आचार-विचारों से सर्वथा भिन्न थे। यद्यपि यह शासक इस देश में आकर बस गये थे, फिर भी इनके और असंख्य शोषित जनता के बीच भेद-भावों की एक बड़ी दीवार खड़ी थी। इन भेद-भावों को दूर करने के निरन्तर उपाय भी होते रहे, किन्तु समानान्तर रेखाओं की भाँति यह दो विभिन्न धाराएँ दीर्घ काल तक भारतीय संस्कृति में चली आ रही हैं। इनको मिलाने और एक करने का प्रयास हमारे इतिहास की प्रगतिशील परम्परा का महत्त्वपूर्ण अंग है और कबीर उसके सर्वोत्तम प्रतीक हैं।

यह भी ठीक है कि भारतीय समाज के सामन्ती ढाँचे के साथ ही यह भेद-भाव जुड़े हुए हैं। जब यह ढाँचा टूटकर एक नवीन जनवादी व्यवस्था को जन्म देगा, तब ही ये परस्पर के भेद-भाव सदा के लिए मिट सकेंगे। इस नई व्यवस्था के लिए जीवन-मरण के संघर्ष में महान् सन्त कवियों का साहित्य हमारा अमूल्य उत्तराधिकार है। इस साहित्य में हम अनेक अन्तर्विरोध भी पाते हैं। सन्त कवि भारतीय जनता के प्रतिनिधि थे। उनकी सामाजिक चेतना बहुत तीव्र थी। जनता के दुःख-दर्द और उसकी वेदना से फूटकर ही उनके काव्य की सरस्वती बही थी। जनता की पीड़ा से यह काव्य ओत-प्रोत है। किन्तु सन्त-साहित्य का एक आध्यात्मिक पक्ष भी है। सन्त-साहित्य में परलोकमुखी तत्व बहुत प्रबल हैं। इस साहित्य में निरन्तर हमें यह भावना

मिलती है कि ससार असार है, माया के महलो में मनुष्य की आत्मा वन्दी है, इस माया-ठगनी के जाल से आत्मा को मुक्त करना है। एक प्रकार का दुःखवाद और पराजयवाद भी इस काव्य में हमे मिलता है। इन तत्वो के विरुद्ध प्रगतिशील विचारको को निर्भय सघर्ष करना है, क्योकि भारतीय जनता की चेतना के लिए इन तत्वो ने चिरकाल से अफ़ीम की पुड़िया का काम किया है। अत्याचार और शोषण के दुर्गो को कवियो की आत्मा अजेय समझकर आध्यात्मवाद को मुक्ति का एक-मात्र मार्ग मान लेती है।

सन्त कवियो ने भक्ति का मार्ग अपनाया, किन्तु उनके मतो में परस्पर अनेक भेद हैं। तुलसी का सन्देश केवल हिन्दू जनता के लिए है। यह सच है कि भारत की बहुसख्यक जनता हिन्दू धर्मावलम्बी थी, किन्तु शोषण और सामन्ती व्यवस्था के शिकार इस्लाम के अनुयायी भी कम न थे। इनके अतिरिक्त अनेक अछूत और पीढियो से दलित और कुचली हुई जातियो के लिए भी तुलसी के दर्शन में कोई प्रेरक सन्देश न था। राम की शरण मे आओ, राम ही भव-सागर के पार लगा सकते है, तुलसी-साहित्य का यह मूल मत्र है।

इसके विपरीत कबीर ने निर्गुण पथ अपनाया। उन्होने राम और रहीम के भेद का पचड़ा ही छोड दिया और परस्पर के सभी भेद-भावो के विपरीत जिहाद बोल दी। कबीर कहते हैं

"करता के कुछ रूप न रेखा। करता के कुछ बरन ने भेखा।
ताके जात गोत कुछ नाहीं। महिमा बरनि न जाय मो पाहीं।
रूप अरूप नहीं तेहि नाऊँ। बर्न अबर्न नहीं तेहि ठाऊँ।
कहै 'कबीर' बिचारि कै, जा के बर्न न गाँव।
निराकार औ निर्गुना, है पूरन सब ठाँव ॥[१]"

कबीर के काव्य में विषय-वस्तु प्रधान है। अपने मत का प्रचार करने के लिए कबीर ने अपनी कविता कही थी। कबीर ने अपनी कविता लिखी न थी। उन्होंने 'मसि कागद' छुआ नहीं था। उनकी वाणी का सग्रह बाद

१ कबीर वचनावली, पृष्ठ ११६

में उनके शिष्यों ने किया। कबीर का विचार-दर्शन उनके जन्म और जाति से काफी प्रभावित है। उनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ हो या न हुआ हो, कबीर अपने को बार-बार जुलाहा कहते हैं :

"तू बाम्हन, मैं कासी का जुलहा,
बूझौ मोर गियाना।"

अपने को वह 'ना हिन्दू न मुसलमान' कहते हैं। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार भी कबीर का जीवन-दर्शन उनके जन्म और जातिगत वातावरण से बड़ी हद तक प्रभावित हुआ था। द्विवेदी जी कबीर को 'नाथ मतावलम्बी गृहस्थ योगी' कहते हैं।[1] कबीर का विद्रोह समस्त सामन्ती आचार-विचारों और संस्कृति के प्रति समाज के दलित और त्रस्त वर्गों का विद्रोह है। द्विवेदी जी कहते हैं, "कबीर दास बहुत-कुछ को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे।"[2] उन्होंने "आजीवन सम्प्रदायवाद, बाह्याचार और बाहरी भेद-भाव पर कठोरतम आघात किया था।'[3]

कबीर निर्गुणवादी थे, किन्तु उनके विचार-दर्शन का आधार भक्ति और प्रेम था। वेदान्त और सूफ़ी मत दोनों से वह प्रभावित हुए थे। उनके विचारों की दार्शनिक परिभाषा श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "द्वैताद्वैत-विलक्षण समतत्ववाद" है।[4] कबीर ने बार-बार कहा है कि प्रेम का महत्त्व सब पोथी-पत्रों से बड़ा है :

"पढ़ि पढ़ि के पत्थर भया
लिखि लिखि भया जु ईंट।
कहै 'कबीरा' प्रेम की,
लगी न एकौ छींट॥"

अथवा,

"पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा,
पण्डित भया न कोइ।

---

१. 'कबीर', पृष्ठ ६
२. भूमिका 'कबीर', पृष्ठ १
३. 'कबीर', पृष्ठ ६
४. 'कबीर', पृष्ठ ३२

एकै आखर पीव का,
पढै सु पंडित होइ ।"

जोगियों का भी कबीर ने काफी मज़ाक उड़ाया है :

"कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौले, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होई गैले बकरा,
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले काम जराय जोगी बनि गैले हिजरा।"

कबीर सभी बाह्य आडम्बर और पाखण्ड के विरुद्ध थे। इसीलिए वह राम और रहीम, 'मुलना और पाँड़े' का भेद न मानते थे। कबीर कहते है :

"मूड़ मुड़ाए हरि मिलें, सब कोई लेइ मुड़ाय ।
बार-बार के मूड तें भेड़ न बैकुंठ जाय ॥
पूजा, सेवा, नेम, व्रत, गुड़ियन का-सा खेल ।
जब लग पिउ परसे नहा, तब लग ससय मेल ॥
आचारी सब जग मिला, मिला बिचारि न कोइ ।
कोटि अचारी वारिए, एक बिचारि जो होइ ॥"

ब्राह्मण, पाडे और महन्त कबीर के तीव्रतम कटाक्ष का लक्ष्य बने हैं

"बावन रूप छल्यो बलि राजा, ब्राह्मण कीन्ह कौन को काजा ?
ब्राह्मण ही सब कीन्ही चोरी, ब्राह्मण ही को लागल होरी ।
अन्ध सो दरपन वेद-पुराना, दरबी कहा महारस जाना ।"

वर्णाश्रम धर्म पर अवलम्बित सामन्ती हिन्दू समाज के प्रति कबीर के विद्रोही हृदय के यह उद्‌गार निकले हैं। कबीर कहते हैं :

"सन्तो पाडे निपुन कसाई ।
कहै 'कबीर' सुनो हो सन्तो, कलि माँ ब्राह्मण खोटे।"
"फूटी आँखि विवेक की, लखै न सन्त असन्त ।
जाके सँग दस-बीस हैं, ताको नाम महन्त ॥"

इसी प्रकार इस्लाम के बाह्य आडम्बर पर कबीर तीखे प्रहार करते हैं

"काजी कौन कतेब बखानै ।
पढत पढत केते दिन बीते, गति एकै नहिं जानै ।

सकति से नेह पकरि करि सुनति, यह न बदूँ रे भाई;
जौर खुदाई तुरक मोहिं करता, तौ आपै कटि किन जाई ?"

प्रेम को कबीर जीवन का मूल मन्त्र मानते हैं। उनके अनुसार सच्चा धर्म वही है, जो मनुष्य को प्रेम की सीख देता है। कबीर प्रेम की महिमा गाते नहीं थकते :

"यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै, भुइँ धरै, तब पैठे घर माँहिं॥
सीस उतारै, भुइँ धरै, ता पर राखै पाँव।
दास 'कबीरा, यों कहै, ऐसा होय तो आव॥
प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा, परजा, जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥
प्रेम पियाला, जो पियै, सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दे सकै, नाम प्रेम का लेय॥
जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लोहार की, साँस लेत बिनु प्रान॥"

इसी सर्वव्यापी प्रेम के कारण कबीर ऊँच-नीच और हिन्दू-मुसलमान के भेद-भावों को कोई प्रश्रय नहीं देते। वह बताते हैं :

"गुप्त प्रगट है एकै मुद्रा, काको कहिए ब्राह्मन शुद्रा ?
झूठ गरब भूलै मति कोई, हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई।
जो तोहि कर्त्ता वर्ण विचारा, जन्मत तीन दंड अनुसारा।
जन्मति शूद्र भये पुनि शूद्रा, कृत्रिम जनेउ घालि जगदुद्रा।
जो तुम ब्राह्मन बाह्मनि जाए, और राह तुम काहे न आए।
जो तू तुरुक तुरुकिनी जाया, पेटै काहे न सुनति कराया।
कारी पीरी दूहौ गाई, ताकर दूध देहु बिलगाई ?
छाँड़ु कपट नर अधिक सयानी, कह 'कबीर' भज सारँग पानी॥"

हिन्दू और मुसलमानों के बीच जो व्यर्थ के भेद-भाव उठ खड़े हुए थे, उनकी कबीर तीव्र शब्दों में निन्दा करते हैं :

"गहना एक कनक ते गहना, तामे भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुई कर पाते, इक नेवाज, इक पूजा॥
वही महादेव, वही मुहम्मद, ब्रह्मा, आदम कहिए।
कोइ हिन्दू, कोइ तुरुक कहावै, एक जमीं पर रहिए॥
वेद किताब पढ़े, वे कुतुबा, वे मुलना, वे पाँड़े।
बिगत-बिगत कै नाम धरायो इक माँटी के भाँड़े॥
कह 'कबीर' ते दोनो भूले, रामहिं किनहु न पाया।
वे खसिया, वे गाय कटावें, बादे जनम गँवाया॥"

इसी प्रकार के विचार कबीर ने निरन्तर अपने काव्य मे प्रगट किए हैं। मनुष्य-मात्र का महत्त्व उनकी दृष्टि में बड़ा है—उसकी बाह्य वेश-भूषा, आचार-विचार जो भी हो। मध्य युग के गहन कुहासे मे कबीर के यह अग्रगामी, मानवतावादी विचार आलोक की एक तीव्र, तीखी स्वर्ण-रेखा हैं, जिससे आज भी अन्ध-विश्वासो में डूबा प्राणी बहुत-कुछ प्रकाश पा सकता है।

कबीर मनुष्य के दुःख से द्रवित हुए हैं, वह उसे मनुष्यता का पाठ पढ़ाते हैं। यदि मन मे दया-धर्म नहीं है, तो जाप और तिलक-छापा सब बेकार हैं। बड़ी हृदय-द्रावक भाषा में कबीर इस जग की पीड़ा का वर्णन करते हैं

"जो देखा सो दुखिया देखा, तन धरि सुखी न देखा।
उदे-अस्त की बात कहत हों, ताकर करौ बिबेखा॥
बाढ़े-बाढ़े सब कोऊ दुखिया, क्या गिरही, बैरागी।
सुक्राचार्य दुख ही के कारन, गर्भै माया त्यागी॥
जोगी दुखिया, जगम दुखिया, तापस को दुख दूना।
आसा-तृष्णा सब घट व्यापे, कोई महल नहि सूना॥
साँच कहौ तो सब जग खीजै, झूठ कहा नहिं जाई।
कहै 'कबीर' तेई मे दुखिया, जिन यह राह चलाई॥
यह ससार कागद की पुड़िया, बूँद परे घुल जाना है।
यह ससार काँट की बाड़ी, उलझ-पुलझ मर जाना है॥

यह ससार झाड औ झॉखर, आग लगे बरि जाना है ।
कहत कबीर सुनो भइ साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है ॥"

अन्यत्र भी कबीर इसी स्वर मे कहते हैं :

"चलती चक्की देखि के, दिया कबीरा रोय ।
दुइ पट भीतर आइ कै, साबित गया न कोय ॥"

ससार मे सर्वत्र दुःख-ही-दुःख कबीर ने देखा था :

"ऐसा कोई ना मिलै, जासों रहिये लागि ।
सब जग जलता देखियों, अपनी-अपनी आगि ॥
ऐसा कोई ना मिलै, जासो कहूँ निसक ।
जासो हिरदे की कहूँ, सो फिर मारै डक ॥"

इसी सर्वव्यापी पीड़ा के कारण कबीर संसार को असार समझने लगे थे। इसके पाखण्ड और मिथ्याचारों से उन्हें घृणा हो गई थी। सभी धर्मों में वह महन्ती और झूठ का आडम्बर देखते थे। कबीर ने निरन्तर अपने पदों मे सत्य, सहृदयता और सत्सग की प्रशसा की। उनकी सीख उत्तर भारत की जनता की जिह्वा पर पूर्ण रूप से चढ गई है । तुलसी के समान ही उनके पद लोकप्रिय हो गये हैं। इसे सभी आलोचकों ने स्वीकार किया है ।

कबीर कहते हैं कि भक्ति करना आसान नहीं है। वीर और सूरमा ही भक्ति कर सकते हैं। भक्ति मे राजा और रक, ऊँच और नीच का भेद नहीं रहता :

"कामी, क्रोधी, लालची, इन ते भक्ति न होय ।
भक्ति करै कोइ सूरमा, जाति, बरन, कुल खोइ ॥
भक्ति गेंद चौगान की, भावै जोइ ले जाय ।
कह 'कबीर' कुछ भेद नहि, कहा रक कहँ राय ॥"

सन्त वह है जिसकी कोई जाति नहीं है, किन्तु जिसके हृदय में ज्ञान है। सन्त कभी अपनी 'सन्तई' नहीं छोड़ सकता :

"जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान ।
मोल करो तरवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥
सन्त न छोड़े सन्तई, कोटिक मिले असन्त ।
मलय भुवगहिं वेधिया, सीतलता न तजन्त ॥
साधू भूखा भाव का, धन का भूखा नाहिं ।
धन का भूखा जो फिरै, सो तो साधू नाहि ॥"

कबीर सन्त उसी को समझते हैं, जो दूसरों की विपत्ति में काम आता है

"'कबिरा' सगत साधु की, हरे और की व्याधि ।
सगत बुरी असाधु की, आठो पहर उपाधि ॥"

असन्त की परिभाषा कबीर इस प्रकार करते हैं

"चाल बकुल की चलत हैं, बहुरि कहावैं हस ।
ते मुक्ता कैसे चुगैं, परें काल के फस ॥
साधू भया तो क्या हुआ, माला पहिरी चार ।
बाहर भेस बनाइया, भीतर भरी भँगार ॥
माला तिलक लगाइ कै भक्ति न आई हाथ ।
दाढ़ी मूँछ मुड़ाइ कै, चले दुनी के साथ ॥
दाढी मूँछ मुड़ाइके, हूआ घोटम घोट ।
मन को क्यों नहिं मूडिये, जा में भरिया खोट ॥
केसन कहा बिगरिया, जो मूड़ौ सौ बार ।
मन को क्यों नहिं मूडिये, जा में बिष बिकार ॥

कबीर ने 'कथनी' और 'करनी' के विषय में अनेक दोहे कहे हैं । 'कथनी' के विरुद्ध वह 'करनी' को ही महत्त्व देते हैं

"कथनी मीठी खाँड सी, करनी विष की लोय ।
कथनी तजि करनी करै, विष मे अमृत होय ॥
कथनी बदनी छाँड़ि कै, करनी सो चित लाय ।
नरहिं नीर प्याये बिना, कबहूँ प्यास न जाय ॥

करनी बिन कथनी कथै, अज्ञानी दिन रात।
कूकर ज्यों भूँकत फिरै, सुनी सुनाई बात ॥"

कबीर के उपदेशों की निरन्तर यही ध्वनि है कि दूसरों का भला करो। यही धर्म, व्रत, सयम, यम और नियम है '

'कबिरा' सांई पीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बेपीर ॥
तरुवर तासु बिलबिए, बारह मास फलन्त।
सीतल छाया सघन फल, पछी केल करन्त ॥
'कबिरा' सीप समुद्र की, खारा जल नहिं लेय।
पानी पावै स्वाति का, सोभा सागर देय ॥"

जीवन-पर्यन्त अपनी अटपटी, सधुक्कड़ी भाषा मे कबीर उत्तर भारत की जनता को सीख देते रहे। सुकरात के समान कड़वी बातें वह कहते थे, उनके विद्रोही हृदय का स्वर तत्कालीन शासन-व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था पर तीव्रतम आघात करता था। सुकरात के ही समान शासक वर्ग ने कबीर को भी विष का प्याला पीने के लिए दिया, किन्तु कबीर इसे पीकर पचा गए। 'झूठा रोजा, झूठी ईद' जैसे वाक्यों से क्रुद्ध होकर बादशाह सिकन्दर लोदी ने कबीर को 'जजीरो से बँधवाकर गगाजी में फिकवा दिया', किन्तु कबीर किसी प्रकार बच गए :

"गग-लहर मेरी टूटी जजीर; मृगछाला पर बैठे कबीर।
कह 'कबीर' कोऊ सग न साथ, जल-थल राखत है रघुनाथ ॥[१]"

इस घटना मे हम इतना ही सार समझते हैं कि शासक-वर्ग कबीर के विद्रोही स्वर से घबराता था और वह उसे दबाने की चेष्टा में असफल रहा। यह स्वाभाविक ही था।

कबीर ने अपनी भाषा को भी कभी सजाया और सँवारा नहीं। सीधी, साफ, दो-टूक बात वह कहते थे। कवि बनना या कहलाना उनका ध्येय न

१. हिन्दी नवरत्न, पृ० ४४७

था। वह कवि बिना इच्छा किये ही बन गए, क्योंकि ज्ञान का जो अनमोल मोती उन्हे मिला था, उसका मूल्य उनकी जनता ने पहचाना। कबीर सामान्य जीवन से अपनी उपमाएँ लेते हैं और इसी कारण इन उपमाओं मे बल है, तीखापन है और हृदय को वेधने की क्षमता है। व्यापारी, तराज़ू, कुम्हार, माटी, जौहरी, गन्धी, विरहिन, पति, बहू, 'खाला का घर' आदि उपमाएँ और शब्द-चित्र कबीर की वाणी में प्रचुरता से मिलते हैं। इनमे पडिता के अनुसार अक्सर ग्रामीण दोष भी कहा जायगा। किन्तु भारतीय जनता ने कबीर की वाणी को अनायास ही अपनाकर यह सिद्ध किया है कि यह वाणी भारतीय जनता के ही हृदय की वाणी है, यद्यपि इस वाणी की अपनी ऐतिहासिक सीमाएँ हैं। यह सीमाएँ हैं—कबीर का आध्यात्मवाद, मायावाद, परलोकवाद, इन्हें चाहे जो दार्शनिक जामा आचार्यगण पहिनाएँ।

हमारा मत है कि कबीर के समान विद्रोही व्यक्तित्व भारतीय साहित्य के इतिहास मे दूसरा नहीं हुआ। यह सच है कि अनेक प्रतिभाएँ उनके दाएँ-बाएँ शोभा पाने की अधिकारी हैं। शुक्ल जी बताते हैं कि नामदेव के काव्य मे भी परम्परा, रूढि और मिथ्याचार पर वही तीखा प्रहार है, जो हमे कबीर में मिलता है। किन्तु यह भी सच है कि इन्हीं विचारो को कबीर जिस ओज और वेग से रखते हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कबीर का जीवन और काव्य भारत की सामन्ती व्यवस्था की रूढियो, पाखण्डो, आडम्बर और मिथ्यावाद के प्रति तीव्र विद्रोह की भावना से भरा है। उनके जीवन और काव्य के सम्पूर्ण तथ्य को उनकी मृत्यु से सम्बन्धित घटना चरितार्थ करती है। कहते हैं कि यदि किसी की मृत्यु काशी में होती है, तो वह स्वर्ग को जाता है, और यदि मृत्यु मगहर में होती है, तो वह नरक जाता है। कबीर कहते हैं :

"जो कबिरा कासी मरै, तो रामै कौन निहोर।"

कबीर का काव्य भारतीय सस्कृति की परम्परा की अनमोल कड़ी है। आज का प्रगतिशील लेखक कबीर की निर्भीकता, सामाजिक अन्याय के प्रति उनकी तीव्र विरोध की भावना और उनके स्वर की सहज-सचाई और निर्म-

लता को अपना अमूल्य उत्तराधिकार समझता है। सामाजिक शोषण, अनाचार और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष में आज भी कबीर का काव्य एक तीखा अस्त्र है। कबीर से हम रूढ़िगत, सामन्ती दुराचार और अन्यायी सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध डटकर लड़ना सीखते हैं, और यह कि विद्रोही कवि किस प्रकार अन्त तक शोषण के दुर्ग के सामने अपना माथा ऊँचा रखता है।

रीतिकालीन साहित्य

रीतिकाल का साहित्य हिन्दी के इतिहास मे अपना विशेष स्थान रखता है। विशेष सामाजिक परिस्थितियों में इस साहित्य का जन्म हुआ और इसकी रूपरेखा निश्चित हुई। अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य दोनों से ही अलग इसके गुण हैं। अवश्य ही इस विभिन्नता के कारण उन परिस्थितियों में निहित हैं, जिन्होंने इस साहित्य को जन्म दिया।

रीतिकाल से पूर्व हिन्दी साहित्य भक्ति के स्रोत से निकला। कृष्ण-काव्य हमें भक्ति-काल से रीतिकाल का मार्ग दिखाता है। भक्ति-काव्य मुगल साम्राज्य के उद्दीयमान युग का साहित्य है। इसके विपरीत रीति-काव्य मुगल साम्राज्य के अस्तकाल का साहित्य है। इस काव्य की कला भी निरन्तर ह्रास के पथ पर बढती गयी। देव, बिहारी, मतिराम और भूषण के काव्य से बहुत निम्न श्रेणी का साहित्य हमें पद्माकर, बेनी, ग्वाल और तोप से मिलता है। हमारी सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति बिगड़ती ही जा रही थी और हमारे देश मे शासन की व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी।

शासन की बागडोर अंग्रेजों के हाथ में आयी। एक नये सिरे से देश का आर्थिक शोषण आरम्भ हुआ और अवर्णनीय दैन्य भारतीय समाज पर छा गया। किन्तु अंग्रेजो के आगमन के साथ समाज का ढाँचा पूर्णतय बदलने लगा और क्रमश नव-जागरण के चिह्न भारतीय समाज में प्रगट होने लगे। नया भारतीय साहित्य इस जागरण का सन्देश लेकर ही आया और मध्य-कालीन साहित्य से रूपरेखा में सर्वथा भिन्न है।

भक्तिकाल की परम्परा को रीति-काव्य ने शृंगार का साधन बनाया। रीतिकाल के कवि दरबारी कवि थे। अपनी जीविका के लिए वह सामन्तों की कृपा पर निर्भर थे। शासन-व्यवस्था का समस्त ढाँचा ढीला पड़ रहा था। दरबारों के सामने कोई उच्च लक्ष्य अथवा आदर्श थे ही नहीं। अतएव शृंगारी

कविता भी उत्तरोत्तर अश्लील होती गयी और रति और विपरीत रति ही उसके प्रिय विषय बनते गए। देव के 'अष्टयाम' के अनुसार आठो पहर ही जीवन की एकमात्र क्रीडा काम-क्रीडा थी।

रीति-काव्य एक विशेष परिपाटी का काव्य है। इस युग में प्रबन्ध-काव्य बहुत कम लिखा गया। केशव की रामचन्द्रिका अथवा रघुराजसिंह का काव्य अपवाद मात्र हैं। फुटकर छन्दों को एक रीति-विशेष से इस युग के कवि सजाते हैं। मिश्रबन्धुओं के अनुसार तो देव अपने प्रिय छन्दो को अनेक स्थलो पर बैठा देते हैं। छन्द, अलकार, नायक-नायिका भेद के आदि की विवेचना मे इन कवियो ने अपने कवित्त लिखे हैं। अपने यजमानों की प्रशसा मे भी उन्होंने कल्पना की ऊँची उडानें ली हैं। मतिराम ने 'ललित-ललाम' में बूँदीराज भावसिंह के हाथियों का अनुपम वर्णन किया है।

यद्यपि इन कवि-पुगवों का राज-सभाओ में समुचित आदर होता था और किवदन्तिया के अनुसार महाकवि भूषण का शिवाजी और छत्रसाल दोनो ने ही विशेष आदर किया, फिर भी कवि की प्रतिभा के स्वतन्त्र विकास के उपयुक्त ये परिस्थितियाँ न थीं। उनकी कल्पना भी परिपाटी के बन्धनो मे जकडी थी और मुक्त पक्षी के समान पख खोलकर उडने मे असमर्थ थी। अपने शिल्प को इन कवियों ने अवश्य ही खूब निखारा; उनकी भाषा, कला-चातुरी, सगीत-माधुरी अपूर्व है, किन्तु किन्हीं उच्च कला-आदर्शों की कसौटी पर इन रचनाओं को कसना असम्भव है।

रीतिकाल का काव्य परम्परा में बँधा है। उदाहरण के लिए उनका ऋतु-वर्णन लीजिए। वही आलम्बन, उद्दीपन, भाव, अनुभाव, वही उपमा और अलकार। ग्रीष्म, शिशिर, पावस सभी शृगार की नित नवीन सामग्री प्रस्तुत करते हैं, अथवा विरहिणी का हृदय छेदते हैं। शायद ही कभी ऋतुओ के परिवर्तन और प्रकृति के रूप ने परम्परागत पर्दे को इन कवियों के नेत्रों से हटाया हो। रीतिकालीन काव्य के प्राण मध्य युग की इन परम्पराओं मे उसी प्रकार बँधे हैं, जैसे भारतीय सगीत के प्राण राग-रागिनियों के रूप-प्रकारों मे। क्लासिकल भारतीय सगीत की भाँति ही रीति-काव्य की

प्रेरणा सीधे जीवन से सम्बद्ध नहीं। वह शास्त्र की नियम-शृंखलाओं में जकड़ी है।

इस रीति का प्रभाव हम रामचन्द्रिका जैसे प्रबन्ध-काव्य पर भी देख सकते हैं। रामचरितमानस के समान रामचन्द्रिका का प्रवाह अविरल और अविराम नहीं। कथा की धारा रुक-रुककर बढ़ती है, मानो रामचन्द्रिका कथा की लड़ी में पिरोये छन्द-मुक्ताओं का संग्रहमात्र हो। कवितावली के समान ही जैसे रामचन्द्रिका भी फुटकर छन्दों का शिथिल अनुबन्ध हो। रामचरितमानस के समान रामचन्द्रिका के वर्णन-स्थलों में तरलता और तल्लीनता नहीं। बड़े यत्न और संयम से केशव कथा-वस्तु को आगे बढ़ाते हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि भक्तिकाल के कवि रीति के बन्दी न थे, उनकी प्रेरणा मुक्त थी। किन्तु उत्तरोत्तर सामाजिक ह्रास साहित्य पर अपना विषमय प्रभाव प्रगट कर रहा था।

रामचन्द्रिका का पावस वर्णन देखिए

"भौंहें सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर,
भूखन जराय जोति तड़ित रलाई है।
दूरि करी सुख मुख सुखमा शशी की, नेन
अमल कमल दल दलित निकाई है॥
केसोदास प्रबल करेनुका गमन हर,
मुकुत सु हंसक सबद सुखदाई है।
अम्बर बलित मति मोहै नीलकंठ जू की,
कालिका कि बरखा हरखि हिय आई है॥"

इस वर्णन में कवि की बुद्धि का चमत्कार अधिक है और स्वाभाविकता कम। आगे भी कवि की सूक्ष्म वर्षा के रूप में प्राचीन उपमाएँ ही देखती है :

"कलहंस कलानिधि खंजन कंज
कछू दिन केशव देखि जिये।
गति आनन लोचन पायन के
अनुरूपक से मन मानि लिये।

यहि काल कराल ते सोधि सबै
हठि कै बरषा मिस दूरि किये ।
अब धौं बिन प्राण प्रिया रहि है
कहि कौन हितू अवलम्ब हिये ॥"

इन छंदों की तुलना सूरसागर के स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी वर्षा-वर्णन से कीजिए और यह अनायास ही समझ में आता है कि रीति बंधन में किस प्रकार काव्य के प्राण बंध रहे थे :

"मेघ दल प्रबल ब्रज लोग देखैं । चकित जहाँ तहाँ भये निरखि बादर नये ग्वाल गोपाल डरि गगन पेखैं ॥ ऐसे बादर सजल करत अति महाबल चलत घहरात करि अंधकाला । चकृत भए नंद सब महर चकृत भये चकृत नर नारि हरि करत ख्याला ॥ घटा घन घोर घहराति अरराति दरराति सरराति ब्रज लोग डरपैं । तड़ित आघात तरशत उतपात सुनि नर नारि सकुचि तनु प्राण अरपैं ॥ कहा चाहत हौन भई न कबहूँ जौन कबहुँ आँगन मौन बिकल डोलै । मेटि पूजा इन्द्र नंद सुत गोविंद सूर प्रभु करै आनंद कलोलै ॥"

रीतिकाल के कवि आगे चलकर प्रकृति को शृंगार का उद्दीपन और साधन समझने लगे । आठो याम और बारह मास मानों मनुष्य का जीवन काम-क्रीडा में ही लगा हो । देव का पावस-वर्णन देखिए :

"सहर सहर सौंधी सीतल समीर डोलै,
घहर घहर घन घोरि कै घहरिया ।
झहर झहर झुमि झीनी झर लायो देव
छहर छहर छोटी बूँदनि छहरिया ।
हहर हहर हँसि हँसि के हिंडोलै चढ़ैं,
थहर थहर तन कोमल थहरिया ।
फहर फहर होत प्रीतम को पीत पट,
लहर लहर होत प्यारी को लहरिया ॥"

रीतिकालीन कवि संस्कृत के आचार्यों की रसविवेचना स्वीकार करके आगे बढे । इन आचार्यों की रस-व्याख्या निगूढ और मार्मिक है । समकालीन

साहित्य का अध्ययन करके इन आचार्यों ने अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। जिस ऊँचे धरातल पर सस्कृत साहित्य पहुँच चुका था, उसी के अनुरूप उच्चकोटि की यह शास्त्रीय विवेचना भी है। काव्य का प्राण रस है। रस क्या है? किस प्रकार रस का परिपाक होता है? उसके आलम्बन-उद्दीपन क्या हैं? काव्य के रूप की विस्तृत व्याख्या, छन्द और अलकारों की परिभाषा कोई भी प्रश्न इन आचार्यों की सर्वदर्शी दृष्टि से मानो नहीं बचा। आलोचना-शास्त्र भी उनके अन्य शास्त्रों के समान ही विकसित और प्रौढ है। काव्य का विश्लेपण करके जो शास्त्र इन महारथियों ने रचा, वह आगे की पीढियों के लिए पत्थर की लकीर बन गया। इसी शास्त्र की प्रेरणा से आगे का साहित्य रचा गया।

जिस प्रकार भारतीय साहित्य भरत अथवा मम्मट की छत्र-छाया में पला, उसी प्रकार युरोप का साहित्य अरिस्टॉटल के प्रभाव में। अरिस्टॉटल ने ग्रीक नाटक और काव्य की परीक्षा के फलस्वरूप जो सिद्धान्त निकाले, उन पर आज भी अधिक नुकताचीनी असभव है। इतनी गहरी और सूक्ष्म दृष्टि इतिहास में यदा-कदा ही मिलती है। मध्य युग में युरोप अरिस्टॉटल के प्रभाव में पला, किन्तु आधुनिक युग और सास्कृतिक जागरण के साथ अरिस्टॉटल का बन्धन भी टूटने लगा। शेक्सपियर ने एक नवीन शैली के नाटकों का निर्माण किया। साहित्य के प्राचीन रूप बदलने लगे और एक नयी कला की सृष्टि और परिभाषा यूरोप में हुई।

उन्नीसवीं सदी से हमारे देश में भी इसी प्रकार का सास्कृतिक नव-जागरण हो रहा है, नये कला-रूपों की सृष्टि हो रही है और साहित्य के नये माप-दण्ड सामने आ रहे हैं। नया साहित्य अपनी सृजन-शक्ति से कला की परिभाषा और व्याख्या को बदल देता है। यही जीवन की गति और विजय है।

नया प्राणवान साहित्य बँधे समाज में जन्म नहीं ले सकता। उस सृजन-प्रेरणा के लिए मुक्त प्राणों और प्रगति के खुले पथों की आवश्यकता

है। रीतिकालीन समाज रूढ़ियों में बँधा त्रस्त समाज था। न ऐसे समाज के जीवन में गति और शक्ति हो सकती है, न उसकी कला में।

रीतिकालीन काव्य के प्राण कुण्ठित थे, किन्तु उसके रूप में अतिशय माधुरी और कमनीयता है। इस युग के कवि शास्त्री और आचार्य थे। उनकी काव्य-प्रतिभा विशेष तीव्र थी; उनकी कल्पना, सूझ, शिल्प, शब्द-योजना उच्च कोटि की थी। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि इन कवियों की रचना में अपने टूटते समाज के लिए कोई कल्याणकारी संदेश था। एक आलोचक ने कहा है कि अस्तकालीन साहित्य में सन्ध्या का रूप और सौन्दर्य होता है। यह सौन्दर्य निस्सदेह रीतिकालीन काव्य में है।

इस काव्य में केशव की काव्य-चातुरी, आचार्यत्व और अद्भुत शिल्प-कला है। देव, बिहारी, मतिराम, तोष, वेनी और दास का मधुर शब्द-सगीत है, उनकी अनोखी उक्तियाँ और मर्मस्पर्शी पक्तियाँ हैं। भूषण का ओज और पौरुष है। १८वीं सदी के अंग्रेजी काव्य से एक हद तक हम इन रचनाओं की तुलना कर सकते हैं। पोप के काव्य में यही, अनुपम बाह्य शृंगार है और यही आचार्यत्व। इस प्रकार के काव्य में अब कोई विकास की सभावना नहीं बची थी। उन्हीं विचारों और शब्दों को परवर्त्ती कवि कुछ हेर-फेर के साथ प्रस्तुत कर सकते थे। यह काव्य किसी आन्तरिक क्रान्ति की अपेक्षा कर रहा था।

मुग़ल साम्राज्य ह्रास के पथ पर अग्रसर था। जिस शासन-व्यवस्था का निर्माण बाबर और अकबर के सबल हाथों ने किया था, वह छिन्न-भिन्न होने लगी थी। इस टूटती सत्ता के विरोध में अनेक जातियाँ सिर उठाने लगीं। इन सभी से उग्र और सबल मराठा जाति का जागरण था। भूषण के काव्य में इस जागरण का ओज और उल्लास है किन्तु संकीर्ण साम्प्रदायिकता भी है। हिन्दुत्व के नाम पर कोई व्यापक शासन-व्यवस्था महाराष्ट्र जागरण न बना सका, जो मुग़ल शासन का स्थान ले सकती। धूम्रकेतु के समान यह उग्र मराठा शक्ति भारत के राजनीतिक आकाश में उठी और बुझ गयी।

रीति में बँधे 'शिवराज भूषण' में हम एक नया स्वर सुन सकते हैं, किन्तु कवि की वाणी में कितनी संकीर्णता और साम्प्रदायिकता है, कोई उदार-प्राण व्यक्ति आज इस प्रकार के भावों को पसंद नहीं कर सकता :

"साहिन के सिच्छक सिपाहिन के पातसाह
संगर में सिंह कैसे जिनके सुभाव हैं,
भूषण भनत सिव सरजा की धाक ते वे
काँपत रहत चित्त गहत न चाव हैं,
अफजल की अगति साइस्त खाँ की अपति
बहलोल की बिपति सुनि डरे उमराव हैं,
पक्का मतो करि कै मलेच्छ मन सब छोड़ि,
मक्का ही के मिस उतरत दरियाउ हैं।"

वही शासन-व्यवस्था देश में अब सफल हो सकती है, जिसके अंतर्गत सभी जातियाँ परस्पर मेल और एकता से रह सकें।

रीतिकाल के कवि प्रतिभावान् कुशल कलाकार थे। देव, बिहारी, मतिराम सभी उच्चकोटि के शिल्पकार थे। किन्तु जिस मृतप्राय सामन्ती समाज और राज-व्यवस्था में उनकी कला का पोषण हुआ, उसके अन्तर्गत उनकी प्रेरणा कुण्ठित और त्रस्त ही रह सकती थी। उसके स्वस्थ, स्वाभाविक विकास के पथ बंद थे।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य

हिन्दी-साहित्य का आधुनिक युग सन् १८५० ई० से आरम्भ होता है। सन् १८५० भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म-काल है, और आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रथम चरण भारतेन्दु के जीवन से सम्बन्धित है। एक युग के अन्त और दूसरे के आरम्भ के लिए हम कोई तिथि निर्दिष्ट करते हैं, किन्तु दो युगों की सीमाएँ इतनी स्पष्टता से निर्धारित करना बहुत कठिन है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य का पहला प्रयास भारतेन्दु के व्यक्तित्व से ओत-प्रोत है, और इतिहासकार उसे भारतेन्दु युग कहते हैं। इस काल-रेखा को हम पीछे भी ले जा सकते हैं, जब पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क और आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनों के कारण भारतीय जीवन में नव-जागरण का स्पन्दन शुरू हुआ। यह सच है कि इस नवोत्थान का सूर्य पहले पूर्वीय भारत के आकाश में उदय हुआ और क्रमशः उसका आलोक हिन्दी प्रदेश में पहुँचा, किन्तु फिर भी आधुनिक युग का इतिहास भारत की सांस्कृतिक नवचेतना से हम शुरू कर सकते हैं। आधुनिक युग की सीमाओं को हम आगे भी ला सकते हैं, जब भारतेन्दु ने साहित्य-निर्माण का कार्य आरम्भ किया। भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी-साहित्य के प्रथम महापुरुष थे, अतएव उनके जन्म-काल से नवयुग का सम्बन्ध स्थापित करना स्वाभाविक है। यह हमें अवश्य याद रखना है कि आधुनिक युग हमें मध्य युग की सीमाओं से अलग करता है, और इन दो युगों के बीच रेखा खींचना किसी घटना-विशेष का एक हद तक आरोप ही होगा।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का श्रीगणेश हम सन् १८५७ से भी कर सकते हैं। सन् '५७ के विप्लव के बाद ब्रिटिश शासन-सत्ता हमारे देश में अच्छी तरह से जम गई और विरोधी शक्तियाँ कुछ काल के लिए हतप्रभ हो गईं। आधुनिक युग भारतीय साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण और नये सिद्धान्तों

का युग है, एक नवीन समाज-व्यवस्था का वह प्रतिनिधि और परिचायक है। सन् '५७ के विप्लव के बाद उन शक्तियों का तीव्र ह्रास हुआ, जो मध्यकालीन समाज-व्यवस्था और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती थीं। हम देखते हैं कि सन् '५७ के बाद विदेशी शासन-सत्ता हमारे देश में अच्छी तरह जम गई, किन्तु हमको यह भी स्मरण रखना है कि इस संघर्ष के फल-स्वरूप मध्यकालीन समाज-व्यवस्था और संस्कृति इस देश से लुप्त होने लगी, और एक नवीन आर्थिक और राजनीतिक प्रणाली की नींव यहाँ जमी। मध्य युग का अन्त और आधुनिक युग का आरम्भ इतिहास की एक आवश्यकता थी, हमारे देश के दुर्भाग्य से इस परिवर्तन का माध्यम एक विदेशी शासक-वर्ग बना। यदि अँग्रेज भारत में न आये होते, तो भी यह आर्थिक और सांस्कृतिक क्रान्ति हमारे देश में अवश्य होती। हम कह सकते हैं कि विदेशियों के आगमन से इस क्रान्ति में विलम्ब ही हुआ। हमारे देश में व्यवसाय, उद्योग-धन्धे आदि काफ़ी गति से फैल रहे थे, किन्तु अँग्रेज़ों ने उनका नाश करके हमारी सामाजिक और आर्थिक उन्नति में एक भारी व्यवधान पैदा कर दिया। यह मत रजनी पाम दत्त ने अपनी पुस्तक 'आज का भारत' (India Today) में प्रगट किया है।

मध्य युग का अन्त पुरानी समाज-व्यवस्था और संस्कृति के अन्त की सूचना है। आधुनिक युग उद्योग-धंधों के आरम्भ और सांस्कृतिक नवजागरण का युग है। इतिहास का यह क्रम विश्वव्यापी है, यद्यपि देश और काल के अनुरूप नवीन कला और संस्कृति की रूप-रेखा में बहुत अन्तर रहता है। यूरोपीय साहित्य का आधुनिक युग चौदहवीं शताब्दी में शुरू होता है; इस नवजागरण का तात्कालिक कारण ग्रीक संस्कृति से सम्पर्क था, जिसके फल-स्वरूप सदियों से सोई यूरोप की आत्मा जाग उठी। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत की साहित्यिक आत्मा जो बँधे सामाजिक जीवन के कारण दीर्घ काल से सो रही थी, नए जीवन से आन्दोलित हो उठी। किन्तु समाज अथवा साहित्य में उथल-पुथल मूलतः आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप होती है, इसकी कुछ विवेचना यहाँ संक्षेप में होनी चाहिए।

आधुनिक युग का आरम्भ उत्पादन, यातायात और वितरण के नये साधनों के साथ होता है। अँग्रेज़ों ने भारत की आर्थिक व्यवस्था में अनेक नये परिवर्तन किए। एक ओर तो उन्होंने देशी उद्योग-धन्धों को आमूल तहस-नहस किया, किन्तु दूसरी ओर उन्होंने विदेशी पूँजी से नये उद्योग-धन्धे भी भारत में स्थापित करने शुरू किए। उनका लक्ष्य भारत का आर्थिक शोषण ही था, किन्तु रेल, तार, डाक आदि जो उन्होंने अपनी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता क़ायम करने के लिए खड़े किये, भारत में एक नए जीवन और संस्कृति के दूत भी बन गए। भारत के विशाल साम्राज्य को चलाने के लिए उन्हें सस्ते क्लर्कों की भी आवश्यकता थी; इसकी पूर्ति के लिए उन्होंने अँग्रेज़ी शिक्षा का भारत में सूत्रपात किया। यह अस्त्र जो उन्होंने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए चलाया था, सुदर्शन चक्र की भाँति उलटकर उन्हीं के मर्म-स्थान पर लगा। अँग्रेज़ी शिक्षा ने भारत की उर्वरा भूमि पर एक नये विचार-दर्शन के बीज छिटका दिये, जो आगे चलकर बड़े वृक्ष बने और फले-फूले।

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य को हम भक्तिकाल और रीति-काल के साहित्य में विभाजित करते हैं। भक्ति-काल का साहित्य जनता का साहित्य है और रीति-काल का साहित्य दरबारों का साहित्य है। तुलसी, सूर, कबीर, दादू, नानक, रैदास की वाणी भारतीय जन-कवियों की वाणी है; इस वाणी को भारत की असंख्य, अशिक्षित जनता समझती थी। इसके विपरीत रीति-काल के साहित्य में सामन्तों की विलास-लीलाओं और यदा-कदा उनकी वीर-गाथाओं का प्रतिबिम्ब है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य भारतीय समाज के एक सर्वथा नये वर्ग की वाणी को मुखरित करता है, जो नवीन शासन-प्रणाली और आर्थिक प्रणाली के फलस्वरूप भारतीय रंगमंच पर प्रवेश कर रहा था। आधुनिक साहित्य वस्तुतः भारतीय मध्यम वर्ग की सांस्कृतिक चेतना का फल है।

इस नये शिक्षित, बुद्धिजीवी वर्ग के सांस्कृतिक प्रतिनिधि राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर,

दिलीपकुमार राय, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, हाली, इक़बाल, अकबर, सुमित्रानन्दन पन्त, 'निराला", प्रेमचन्द्र और 'प्रसाद' हैं। यह वर्ग भारत के नवजागरण का नेतृत्व करता है। एक ओर तो यह अपनी प्राचीन संस्कृति की रक्षा के लिए उत्सुक है, किन्तु दूसरी ओर उस सांस्कृतिक परम्परा का विकास भी चाहता है। यह वर्ग अतीत के स्वप्नों में ही उलझा रहना नहीं चाहता, वह भविष्य पर दृष्टि जमाए है, और नई दिशाओं में आगे बढने का आग्रह रखता है।

हिन्दी का प्राचीन साहित्य विशेष रूप से काव्य-साहित्य था। इस काव्य में मुक्तक और प्रबन्ध दोनों शैलियों का विकास हुआ। आधुनिक युग में हिन्दी-काव्य में अनेक नई शैलियों का विकास हुआ, किन्तु इस युग की विशेषता गद्य-साहित्य का अभूतपूर्व विकास है। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना, उपयोगी साहित्य, इन सभी रूपों का आविर्भाव और उनकी पुष्टि आधुनिक युग में हुई।

आधुनिक युग का साहित्य जीवन से ओत-प्रोत है। रीतिकाल के कवि जीवन से काफ़ी दूर हट गए थे। वे एक साहित्यिक परम्परा का निर्वाह कुशलता-पूर्वक कर रहे थे, किन्तु अनेक सीमाओं में उन्होंने अपने-आपको बाँध लिया था। जो पानी थम गया था, मानो आधुनिक युग के आरम्भ से फिर वह निकला और उद्दाम गति से प्रवाहित हुआ। नदी का जल, जो रुकवकर ताल बन गया था, फिर बरसात में बाँध तोड़कर बढती सरिता के समान वह निकला।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के आधुनिक इतिहास को तीन भागों में बाँटते हैं—(१) प्रथम उत्थान, संवत् १९२५-५०, (२) द्वितीय उत्थान, संवत् १९५०-'७५, (३) तृतीय उत्थान, संवत् १९७५ से प्रारम्भ। इस काल-क्रम को आलोचकों ने (१) भारतेन्दु युग, (२) द्विवेदी युग, और (३) छायावादी युग में भी विभाजित किया है, यद्यपि यह वर्गीकरण युग के व्यक्ति-विशेष के प्रति आग्रह रखता है, और 'छायावाद' केवल आधुनिक हिन्दी-काव्य के इतिहास से सम्बन्धित है, गद्य-साहित्य पर यह नामकरण नहीं लागू होता।

प्रथम चरण : भारतेन्दु युग

भारतेन्दु युग आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रवेश-द्वार है। इस युग का साहित्य एक हद तक युग-सन्धि का साहित्य है। यह साहित्याहिन्दी के विकास-क्रम को स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ाता है। यद्यपि यह युग हमारे साहित्य में क्रान्ति का युग है, किन्तु पुरानी परम्पराओं से वह अभी सर्वथा मुक्त नहीं हो सका है।

आधुनिक युग का साहित्य खड़ीबोली का साहित्य है। खड़ीबोली का प्रयोग हिन्दी कविता में पहिले भी खुसरो, गग, सीतल, कबीर आदि कवियों ने किया था, किन्तु अब पहली बार खड़ी बोली पूरे हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा बनी, जैसे पहले ब्रजभाषा अथवा अवधी थी। भारतेन्दु युग में खड़ीबोली का अभूतपूर्व विकास और प्रसार हुआ, किन्तु इस युग के अनेक कवि अब भी अपने काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग करते थे। स्वय भारतेन्दु का अधिकांश काव्य ब्रज-भाषा में है और हिन्दी कविता की मध्यकालीन परम्परा से काफ़ी प्रभावित है। राजा लक्ष्मणसिंह 'शकुन्तला' के अनुवाद में गद्य में खड़ीबोली का प्रयोग करते हैं, किन्तु उसका पद्यांश ब्रजभाषा में है। वास्तव में द्विवेदी युग में जाकर ही ब्रजभाषा और खड़ीबोली के इस सघर्ष का अन्त हुआ।

खड़ीबोली दिल्ली प्रदेश की भाषा थी। इस कारण हिन्दी और उर्दू का साहित्यिक रूप वह आसानी से ले सकी। ब्रजभाषा में भी कुछ गद्य-रचना हुई थी, किन्तु उसका महत्त्व बहुत कम है। भारतेन्दु युग में अनेक नवीन गद्य-रूपों का विकास हुआ, जिनका माध्यम खड़ीबोली थी। नये रूपों में पत्रकारिता उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, निबन्ध आदि का उल्लेख होना चाहिए। इन साहित्य-रूपों का प्रचार और विकास अब हिन्दी में पहली बार हुआ।

हिन्दी गद्य के प्रवर्तकों में चार प्रथम-पुरुषों के नाम आते हैं, मुन्शी सदासुख लाल, इंशा, लल्लूलाल और सदल मिश्र। मुन्शी सदासुखलाल ने 'सुखसागर' लिखा, इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी', लल्लूलाल ने 'प्रेम-सागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान'। इस युग में खड़ीबोली के

गद्य की रूपरेखा तैयार ही हो रही थी, उसने पूर्ण प्रौढता आगे चल कर प्राप्त की।

इसी काल में हिन्दी में अनेक पत्र-पात्रिकाएँ भी निकलनी शुरू हुईं, जिनके कारण गद्य-निर्माण में काफी गति आई। हिन्दी का पहला पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' सन् १८२६ में निकला, सन्' ५० के बाद पत्र-पत्रिकाओं की एक बाढ सी आ गई, जिनमें भारतेन्दु द्वारा सम्पादित 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन', आदि पत्र भी थे। शुक्लजी ने श्री निवासदास कृत 'परीक्षा गुरु' (१८८२ ई०) को हिन्दी का पहला उपन्यास माना है। स्वय भारतेन्दु ने उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया और खेद प्रगट किया था कि जैसे मौलिक नाटक हिन्दी में लिखे जा रहे थे, वैसे उपन्यास नहीं। देवकीनन्दन खत्री के तिलिस्मी उपन्यासों और पं० किशोरीलाल गोस्वामी के तथाकथित 'सामाजिक' उपन्यासों में पुष्ट चरित्र-चित्रण नहीं मिलता। इन उपन्यासों की विशेषता घटना-प्राधान्य है। किन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि भारतेन्दु युग ने हिन्दी-साहित्य में इस अभिनव रूप की सृष्टि की और उसे पाला-पोसा।

नाटक हिन्दी में पहले भी लिखे जाते थे। डा० वार्ष्णेय ने अपने इतिहास में मध्यकालीन नाटकों की एक लम्बी सूची इकट्ठी की है, जिसमें 'प्रबोध चन्द्रोदय', 'देवमाया प्रपच', 'विज्ञान गीता', 'रुक्मिणी हरण' आदि के नाम सुपरिचित हैं। इन नाटकों में चरित्र-चित्रण आदि बहुत कम हैं, और नाटक के सकेत, 'प्रवेश' आदि भी नहीं हैं। इनको केवल 'पद्यात्मक वर्णन' कहा जा सकता है। हिन्दी का पहला आधुनिक नाटक गिरिधरदास कृत 'नहुष' (१८५९ ई०) माना गया है। इसके उपरान्त हिन्दी के रगमच पर भारतेन्दु अवतीर्ण हुए, जो एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना थी। आपने 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद सन् १८६८ में किया, उसके बाद 'चद्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'प्रेमजोगिनी' आदि नाटकों की रचना की। आपने नाट्य-शास्त्र पर 'नाटक' नाम का एक ग्रन्थ भी लिखा और काशी में भारतेन्दु नाटक मण्डली की स्थापना की, जिसके अभिनयों में आप स्वय भाग

लेते थे। भारतेन्दु के नाटकों में साहित्यिकता के साथ-साथ नाटकीय गुण भी हैं। यह समन्वय हिन्दी में सर्वप्रथम भारतेन्दु ने किया। आज की दृष्टि से अवश्य 'चन्द्रावली' अभिनय के योग्य नहीं ठहरता और भारतेन्दु के अन्य नाटक पारसी रगमंच की प्रणाली का स्मरण दिलाते हैं।

आलोचना-साहित्य की आधुनिक परिपाटी श्रीनिवासदास के 'सयोगिता स्वयंवर' से शुरू होती है। एक प्रकार से तो सभी मध्यकालीन रीति-ग्रन्थ समालोचना-साहित्य की श्रेणी में आते हैं, किन्तु लेखकों, पुस्तकों और साहित्यिक रूपों की विवेचना भारतेन्दु युग से शुरू होती है। भारतेन्दु की रचना 'नाटक' भी इसी श्रेणी में आती है। इस युग के लेखकों ने पाश्चात्य आलोचना-शैली का भी अध्ययन किया और साहित्य में नये आदर्श अपने युग के लेखकों के सामने प्रस्तुत किये। हिन्दी-आलोचना का अभूतपूर्व परिष्कार और विकास आगे चलकर प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया। इस दिशा में प० जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने भी सराहनीय कार्य किया।

इस युग में गद्य-साहित्य के निबन्ध, जीवनी आदि, अन्य साहित्य-रूपों का भी अभूतपूर्व सृजन और विकास हुआ। इनके कुछ संकलन और उदाहरण डा० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु युग' मे प्रस्तुत किये हैं।

हमने ऊपर कहा है कि भारतेन्दु युग का साहित्य युग-सन्धि का साहित्य है। यह हम इस युग के काव्य में स्पष्ट देख सकते हैं। गद्य-साहित्य में भारतेन्दु युग के लेखक नई भूमि गोड रहे थे, किन्तु कविता मे हिन्दी की प्राचीन परम्परा उनके सामने थी। इसी परम्परा को उन्होंने विकास के नये पथ दिखाए। भारतेन्दु युग के काव्य में प्राचीन रूपों में नये जीवन की आकुलता है।

प्रकृति, शृंगार, कृष्ण लीला आदि का वर्णन भी भारतेन्दु स्वतंन्त्र अनुभूति और भाव-विदग्धता से करते हैं, किन्तु सामाजिक, और राजनीतिक विषयों का समावेश प्रथम बार उनके युग ने ही हिन्दी-काव्य में किया।

तात्पर्य समाज के चित्रण से है, व्यक्तियों के सम्बन्ध में गाई हुई प्रशस्तियाँ अलग श्रेणी में हैं।

भारतेन्दु का गगा-वर्णन प्रसिद्ध है—

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि मोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥
सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान विविध भय दूर मिटावत॥ आदि

यह आधुनिक हिन्दी-काव्य में एक नया स्वर था और हमारा ध्यान शास्त्रीय पद्धतियों से जीवन की ओर खींच रहा था। अतएव इस वर्णन में कुछ नई ही गम्भीरता और सजीवता है, जो हमें रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ प्रकृति-वर्णन में भी कम मिलती है। इसी प्रकार चन्द्रावली के 'प्रेम-उद्गार में जो मार्मिकता भारतेन्दु ला सके हैं, वह देव अथवा मतिराम के अतिरिक्त अन्य रीति-ग्रन्थकारों के अलकार-बोझिल परकीया-वर्णन में दुर्लभ है—

इन दुखियान कों न सुख सपने हूँ मिल्यो,
यों ही सदा व्याकुल विकल अकुलायँगी।
प्यारे हरिचन्द जू की बीती जाति औध जो पै,
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायँगी।
देख्यो एक बारहू न नैन भरि तोहि याते,
जौन जौन लोक जैहैं तहीं पछतायँगी।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय,
देखि लीजो आँखें ये खुली ही रहि जायँगी॥

ब्रजभाषा-काव्य के महाकवियों में भारतेन्दु अवश्य ही आते हैं। उनके अनेक पदों को स्वर्गीय डा० वेनीप्रसाद ने अपने 'संक्षिप्त सूरसागर' में सूर के पदों की तुलना में रखा है। उदाहरण के लिए भारतेन्दु का एक गीत लीजिए—

तू केहि चितवति चकित मृगी सी ।
केहि ढूँढत तेरो कहा खोयो, क्यों अकुलाति लखाति ठगी सी ॥
तन सुधि करु उघरति री आँचर, कौन ख्याल तू रहति खगी सी ।
उतर न देत जकी सी बैठी, मद पीया कै रैन जगी सी ॥
चौंकि चौंकि चितवति चारहु दिसि, सपने पिय देखत उमगी सी ।
भूल बैखरी मृगछौनी ज्यों, निज दल तजि कहुँ दूर भगी सी ॥
करति न लाज हाट घर वर की, कुल मरजादा जाति डगी सी ॥
हरीचन्द ऐसिहि उरझी तो, क्या नहिं डोलत सग लगी सी ।

किन्तु भारतेन्दु प्राचीन परम्परा के एक विशिष्ट कवि के रूप में ही हमारे सामने नहीं आते, वह एक नवीन परम्परा के सूत्रधार भी हैं। भारतेन्दु युग के कवि सामयिक विषयों पर निरन्तर काव्य-रचना करते थे; यह सामाजिक दृष्टि छायावादी युग में लुप्त होने लगी थी, किन्तु दासता और परवशता से व्याकुल देश के कवि अधिक समय तक जीवन से विमुख नहीं हो सकते।

भारतेन्दु का 'भारत दुर्दशा' सम्बन्धित गीत सुप्रसिद्ध है। उनके अनेक समकालीन कवियों ने अपनी रचनाओं में यही सामाजिक चेतना दिखाई है। बद्रीनारायण चौधरी 'भारत-वन्दना' में लिखते हैं—

जय-जय भारत भूमि भवानी ।
जाकी सुयश पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी ।
सब सुख सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सोहानी ॥
जा श्री सोभा लखि अलका अरु अमरावती खिसानी ।
धर्म सूर जित उयो नीति जहँ गई प्रथम पहिचानी ॥ आदि

यह स्वाभाविक है कि दलित देश के कवि अपने आध्यात्मिक संतोष के लिए अतीत की ओर मुड़ें और उससे तृप्ति पायें, किन्तु भारतेन्दु युग के लेखक निरन्तर महामारी, अकाल और 'टिक्कस' आदि विपदाओं का उल्लेख अपनी रचनाओं में करते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु युग' का विषय ही इस युग के लेखकों की सामाजिक चेतना को बनाया है। 'हिन्दी प्रदीप' में छपी एक होली देखिए—

डफ बाज्यो भरत भिखारी को।
केसर रंग गुलाल भूलि गयो,
कोउ पूछत नहि पिचकारी को।
बिन धन, अन्न लोग सब व्याकुल,
भई—कठिन बिपत नर नारी को।
चहुँ दिसि काल पर्‌यो भारत में,
भय उपज्यो महामारी को॥

बद्रीनारायण चौधरी अकाल के सम्बन्ध में लिखते हैं, जो अँग्रेज़ों की शोषण नीति के कारण नित्य-प्रति देश में पड़ने लगे थे—

भागो-भागो अब काल पड़ा है भारी।
भारत पै घेरी घटा बिपत की कारी॥
सब गए बनज व्यापार इतै सों भागी।
उद्दम पौरुष नसि दियो बनाय अभागी॥
अब बची-खुची खेती हूँ खिसकन लागी।
चारहूँ दिसि लागी है मँहगी की आगी॥
सुनिये चिलायँ सब परजा भई भिखारी।
भागो-भागो अब काल पड़ा है भारी॥

भारतेन्दु समझते थे कि इस विभीषिका का पूर्ण उत्तरदायित्व अँग्रेज़ों के शोषण पर है और पहेली के रूप में आप कहते हैं—

भीतर-भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन-मन-धन मूसै।
जाहिर बातिन में अति तेज, क्यों सखि साजन ? नहिं अँगरेज॥

यह प्रवृत्ति हम भारतेन्दु युग के गद्य में भी देख सकते हैं। 'सारसुधा-निधि' ने एक लेख में लिखा था—

'टैक्स पर टैक्स, अकाल-पर-अकाल, और मरी-पर-मरी यहीं देखी जाती है। नित्य नये आईनों से बेधा जाता है, और नित्य नई स्पीचों से नमक छिड़का जाता है।'

लाइसेंस टैक्स के सम्बन्ध में अर्थ-मन्त्री सर-जॉन स्ट्रैची को सम्बोधित करके 'सारसुधानिधि' ने लिखा था—

'इधर तो तेली-तम्बोली, नाई-धोबी, बसियारे-नालबन्द और हाड़ी-मोची तक कोई न छूटा, पर इधर देखो तो सर-जॉन स्ट्राची साहिब आदि बडी-बडी तलब और वेतन-भोगी महाभाग्य महाशया को इस लाइसन्स की हवा नहीं लगी।...'

भारतेन्दु युग के लेखकों ने राजनीतिक और सामाजिक सुधार के लिए उच्च कोटि के व्यंग्य और हास्य का भी आश्रय लिया। उस युग की परिस्थितियों में यही जनता का तीव्रतम अस्त्र हो सकता था। 'भारत-मित्र' के सम्पादक की हैसियत से बा० बालमुकुन्द गुप्त ने निरन्तर अँग्रेज़ों के शासन और सामाजिक कुरीतियों पर कुठाराघात किया। पठान-युद्ध के सम्बन्ध में 'भारत-मित्र' की टिप्पणी देखिए—

'अँग्रेज़ो ने काबुल के ऊँट को बलवान करने के लिए कई बरस से चारा दिया पर जब उस पर बोझ लादने का विचार किया तब वह दुलत्ती छाँटने लगा। उस पर अँग्रेजो ने उसकी नकेल पकड के अपनी तरफ़ जब जोर से खींचा, तब वह काटने दौड़ा। तिस पर अँग्रेज़ो ने लाचार होकर चाबुक मारने का बन्दोबस्त किया, किसलिए कि 'ढोल, गँवार, शूद्र पशु, नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।'

इन उद्धरणों से हम भारतेन्दु युग की तीव्र राजनीतिक और सामाजिक चेतना का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। यह दृष्टिकोण आधुनिक हिन्दी-साहित्य की विशेषता है। नवयुग के लेखक उस पाठक-वर्ग के लिए लिख रहे थे, जिससे वे स्वयं उत्पन्न हुए थे, उसी के जीवन का प्रतिबिम्ब वे अपनी रचनाओं में भी देते हैं। यह साहित्य सामन्तो के लिए नहीं रचा गया था, इसका पढ़ने वाला एक नया मध्यम श्रेणी का शिक्षित वर्ग था। इस युग के साहित्य में शृंगार रस का वह प्राधान्य नहीं रहा, जो रीति-काल के साहित्य मे था। इसके अतिरिक्त इस युग ने खड़ीबोली को हिन्दी की साहित्यिक भाषा के रूप मे अपनाया, गद्य का

अभूतपूर्व विकास और प्रसार किया, और नाटक, उपन्यास, कहानी, आलोचना, निबन्ध आदि अनेक नये साहित्य-रूपों को अपनाया। भारतेन्दु युग अनेक नवीन प्रवृत्तियों का आरम्भिक रूप हमें दिखाता है। अनेक दिशाओं में उसने क़दम आगे बढ़ाए। भारतेन्दु युग का गद्य और काव्य नवीन की आकुलता को तो व्यक्त करता है, किन्तु उसके परिष्कार और विकास की अभी बड़ी आवश्यकता थी। यह कमी आने वाले युगों ने पूरी की, जब काव्य, नाटक, कथा-साहित्य, आलोचना, आदि सभी रूपों में हिन्दी-साहित्य ने अभूतपूर्व उन्नति की, और 'प्रेमचन्द', 'प्रसाद', 'निराला,' 'आचार्य शुक्ल' आदि महान् साहित्यकारों को जन्म दिया।

द्वितीय चरण : द्विवेदी-युग

द्वितीय उत्थान का काल-विभाजन आचार्य शुक्ल ने संवत् १९५० से १९७५ तक किया है। इस युग के प्रधान पुरुषों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप युग-चेतना पर छोड़ी, अतएव इस युग को द्विवेदी-युग भी कहा गया है। आप एक दीर्घ काल तक 'सरस्वती' के सम्पादक रहे और युग की भाषा और उसके साहित्य की रूपरेखा दृढ हाथों से निर्धारित करते रहे। द्विवेदीजी ने खड़ी बोली को काफी माँजा और सँवारा और एक प्रकार से काव्य की भाषा के सम्बन्ध में ब्रजभाषा और खड़ी बोली के झगड़े का सदा के लिए अन्त कर दिया। इस युग में हिन्दी-साहित्य की आधुनिक परम्परा का यथेष्ट परिमार्जन और विकास हुआ। विशेष रूप से कविता, कथा-साहित्य और आलोचना में इस युग में नवीन प्रौढ़ता आई। डा० श्री कृष्णलाल अपने इतिहास में इस युग की साहित्यिक 'अनेकरूपता' पर लक्ष्य करते हुए लिखते हैं : "· पच्चीस वर्षों में ही एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। मुक्तकों के वन-खण्ड के स्थान पर महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यानक काव्य (Ballads), प्रेमाख्यानक काव्य (Metrical Romances), प्रबन्ध काव्य, गीति-काव्य और गीतों से सुसज्जित काव्योपवन का निर्माण होने लगा। गद्य में घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव-प्रधान, ऐतिहासिक तथा पौराणिक उपन्यास और कहानियों की रचनाएँ हुई।

समालोचना और निबन्धों की अपूर्व उन्नति हुई।...” (‘आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास’, पृ० २)। इस युग में उपयोगी साहित्य की ओर भी हिन्दी लेखकों का ध्यान आकर्षित हुआ। यह आरम्भिक प्रयास था। स्वयं प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ‘सरस्वती’ में विभिन्न विषयो पर निबन्ध लिखते थे, अथवा अनुवाद छापते थे, किन्तु हिन्दी उच्च शिक्षा का माध्यम बन सके, इस परिस्थिति से हम कोसों दूर थे। इस दिशा में क़दम अवश्य हमने बढ़ाया।

इस युग के लेखको पर पाश्चात्य विचार-धाराओं और साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी प्रेरणा भारतीय साहित्य की प्राचीन परम्परा न थी। वे अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए नये माध्यम और मार्ग खोज रहे थे। इन लेखकों की प्रेरणा व्यक्तिवादी थी, वे अपने स्वतत्र अनुभव के बल पर कल्पना की उड़ान लेते थे। रीति-काल के शास्त्रीय और परम्परा-वादी साहित्य से भिन्न उनकी सृजन-प्रेरणा थी। भारतेन्दु युग की तुलना में इन लेखकों ने अपनी कला का शृंगार भी किया, किन्तु फिर भी इनके भावों, अनुभूति और कल्पना में गम्भीरता और गहराई की कमी है। यह कमी छायावाद ने पूरी की। भाषा का परिमार्जन और परिष्कार अवश्य इस युग में हुआ। जो रास्ता आधुनिक हिन्दी-साहित्य ने भारतेन्दु युग में पकड़ा था, उस पर द्विवेदी युग ने हमें और आगे बढाया। साहित्य के विविध रूपों का विकास और प्रस्फुटन इस युग में हुआ। इस युग को हम ‘रोमाण्टिक’ अथवा ‘स्वच्छन्दशील’ युग भी नहीं कह सकते। इस युग के लेखकों में न तो वह कल्पना-विलास था जिसका द्योतक ‘रोमाण्टिक’ शब्द है, न वह निरंकुशता अथवा उतावलापन था जिसका अनुमान ‘स्वच्छन्दता’ से होता है। इन विशेषणों का प्रयोग छायावादी लेखकों के सम्बन्ध में ही हो सकता है।

इस युग की प्रेरक-शक्ति यदि प० महावीरप्रसाद द्विवेदी थे जिन्होंने व्याकरण के प्रति अपने आकर्षण की और अपनी कल्पना की शुष्कता को एक साथ ही युग पर आरोपित किया, तो बा० मैथिलीशरण गुप्त इस युग-शक्ति के सर्वोत्तम साहित्यिक प्रतिनिधि थे। गुप्तजी अनेक छोटे-बड़े प्रबन्ध-काव्य

खण्ड-काव्य आदि अब तक लिख चुके हैं। इनमें प्रवाह है, गति है, गंभीरता है और एक हद तक गहराई भी है। 'साकेत' और 'यशोधरा' के अनेक स्थल इसका प्रमाण हैं। गुप्तजी अपने प्रथम महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ 'भारत-भारती' में देश के बीते वैभव पर दृष्टिपात करते हैं और उसकी वर्तमान दुर्दशा पर आँसू बहाते हैं। यह 'भारत दुर्दशा' की परम्परा का ही निर्वाह और विकास है। अन्य ग्रन्थों में गुप्तजी प्राचीन गाथाओं को पद्य-बद्ध करते हैं। आप भक्त कवि हैं और 'मर्यादा पुरुषोत्तम' राम को अपना उपास्य-देव मानते हैं। इस विचार-दृष्टि का समर्थन 'साकेत', 'पंचवटी' आदि काव्य-ग्रन्थों में हुआ। द्विवेदी युग की सफलता और असफलता दोनों का निदर्शन गुप्तजी के साहित्य में होता है। खड़ीबोली का साहित्यिक रूप अब सुस्पष्ट और मधुर हो गया है, उसमें व्यंजना की गम्भीरता और कोमलता आ रही है, किन्तु फिर भी इस भाषा में एक अटपटापन शेष है जिसका अन्त छायावादी कवियों ने किया। इन सभी गुणों का प्रदर्शन हम 'झंकार' की इन पंक्तियों में देख सकते हैं—

निकल रही है उर से आह।
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी।
मैं अपना घर लिए खड़ा हूँ, अपनी-अपनी हमें पड़ी।

अथवा, 'साकेत' की इन पंक्तियों में—

वेदने, तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
अरी वियोग-समाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी।
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची तनी।

गुप्तजी के काव्य का मधुरतम रूप हम 'मातृभूमि' सदृश कविताओं में देखते हैं—

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।

नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दी जन खग वृन्द, शेष-फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की,
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की ॥

प० अयोध्यासिंह उपाध्याय की भाषा में अधिक प्रौढ़ता, कलात्मकता और गुरुता है, इनकी कल्पना अधिक गतिमय और अनुभूति अधिक तीव्र है। किन्तु आप किसी एक शैली को न अपना सके और निरन्तर प्रयोग करते रहे—कभी ठेठ हिन्दी से, 'चुभते' और 'चोखे चौपदो' से, कभी ब्रजभाषा से, कभी संस्कृत पदावली से पुष्ठ और अलङ्कृत खड़ी बोली से। आप किसी भी शैली का समर्थ प्रयोग करने की क्षमता रखते थे और शायद आपके साहित्यिक जीवन की यही सबसे बड़ी पराजय रही। आपका 'प्रिय प्रवास' आधुनिक हिन्दी का पहला सफल महाकाव्य है, और अवश्य ही हिन्दी के इतिहास का एक पथ-चिन्ह। 'प्रिय प्रवास' का विषय गोपियों की विरह-कथा है, जिसका वर्णन कवि ने अद्भुत सफलता और चमत्कार से किया है। किन्तु यह विषय-निर्वाचन हमे स्मरण दिलाता है कि हमारे कवि निरन्तर प्राचीन आख्यानों की ओर मुड़ रहे थे और उनसे प्रेरणा पा रहे थे। 'हरिऔध' के प्रकृति-वर्णन में कितनी मार्मिकता और अनुभूति है, यह 'प्रिय प्रवास' के प्रथम सर्ग से हम देख सकते हैं—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखाओं पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा ॥
विपिन बीच विहगम-वृन्द का
कल निनाद विवर्धित था हुआ।
ध्वनिमयी - विविधा - विहगावली
उड़ रही नभ मंडल मध्य थी ॥

'हरिऔध' जी ने संस्कृत के अतुकान्त छन्दों को पुनः प्रचलित किया।

विषय-वस्तु का इन छन्दों में बहुत सफल निर्वाह हुआ है। अनेक स्थलों पर तीव्रतम अनुभूति कवि ने सरल और मर्मस्पर्शी शब्दों में व्यक्त की है। यशोदा के विलाप का एक स्थल लीजिए—

मृदु किसलय ऐसा पकजो के दलो सा
वह नवल सलोने गात का तात मेरा ॥
इन सब पवि ऐसे देह के दानवों का
नहि कर सकता था नाश कल्पान्त में भी ॥
पर हृदय हमारा ही हमें है बताता,
सब शुभ फल पाती हूँ किसी पुण्य ही का ॥

हिन्दी के आधुनिक साहित्य में पौराणिक पुनरावृत्ति केवल एक धारा है, अधिकतर लेखक आधुनिक समस्याओं की ओर मुड़ते हैं, यह 'भारत-भारती' आदि से स्पष्ट है। श्रीधर पाठक ने अपने काव्य का एक बड़ा अश अँग्रेज़ी के अनुवादों को प्रदान किया। आश्चर्य यह है कि अनुवाद के लिए आपने गोल्डस्मिथ की कविता को चुना। आपने 'काश्मीर सुषमा' आदि स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थों की रचना भी की। द्विवेदी युग के प्रकृति-वर्णन की शैली का एक उदाहरण हम नीचे देते हैं—

विजन वन-प्रान्त था प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था रजनि का उदय था ॥
प्रसव के काल की लालिमा में लिसा।
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा ॥
सदा उत्फुल्ल अरविन्द-निभ नील सुवि-।
शाल नभ वक्ष पर जा रहा था चढ़ा ॥

इस वर्णन में प्राचीन साहित्यिक सस्कारों से कवि की कल्पना मुक्त हो चुकी है और वह अपनी भाव-व्यञ्जना के लिए स्वतन्त्र शैली, शब्द-विन्यास, उपमाओं आदि की सृष्टि करता है। द्विवेदी युग में अनेक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का जन्म हुआ, जिन्होंने नये कवियों और लेखकों को साहित्य-रचना की प्रेरणा दी। इनमें 'सरस्वती' का महत्व सभी से अधिक बढ-चढकर

था। इस युग के जिन कवियों ने विशेष ख्याति प्राप्त की, उनमें श्री सिया-रामशरण गुप्त, डा० गोपालशरण सिंह, प० रामचरित उपाध्याय, राय देवी-प्रसाद 'पूर्ण', प० सत्यनारायण, 'सनेही', 'एक भारतीय आत्मा' आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। इनमें कुछ कवि ब्रजभाषा की परम्परा से अभी तक सम्बन्ध बनाए हुए थे।

द्विवेदी युग में गद्य-साहित्य का भी समुचित प्रसार हुआ। वास्तव मे द्विवेदी युग गद्य का ही युग था। उसने दर्जनों कवियों को प्रेरणा अवश्य दी, जो हिन्दी-साहित्य के श्रृङ्गार हैं। किन्तु इस युग के महारथी भाषा को गढ़ने और निखारने में विशेष रूप से तल्लीन थे। उनकी कल्पना और भावनाओं में अधिक ऊँचे उड़ने की अथवा गहराई में पैठने की क्षमता न थी। द्विवेदी युग में समालोचना-साहित्य का सन्तोषजनक विकास हुआ। स्वय द्विवेदीजी उच्च कोटि के आलोचक और सम्पादक थे। आपकी सर्वोत्कृष्ट समालोचना कालिदास और सस्कृत के अन्य कवियों से सम्बन्धित थी। द्विवेदीजी हिन्दी की नई पुस्तकों की भी निरन्तर खरी आलोचना करते थे, जिसमे भाषा-सम्बन्धी भूलों की अधिक चर्चा रहती थी। मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' और हिन्दी का सुप्रसिद्ध 'इतिवृत्तात्मक' इतिहास 'मिश्रबन्धु-विनोद' लिखा। प० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर अपनी प्रसिद्ध आलोचना लिखी। इस विषय पर सबसे गम्भीर पुस्तक प० कृष्णबिहारी मिश्र की रचना 'देव और बिहारी' थी। यह आलोचक प्राचीन साहित्य-शास्त्र का ज्ञान रखते थे, किन्तु आधुनिक पाश्चात्य समालोचना-विज्ञान से भी वे परिचित थे। इस प्रकार हिन्दी आलोचना को आधुनिक रूप देने में उनकी रचनाओं का काफ़ी हाथ रहा।

नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध मे भी इस युग के लेखकों ने भारतेन्दु युग की परम्परा का विकास किया। स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटकों के अनुवाद हिन्दी में खूब निकल रहे थे, किन्तु अभी तक हिन्दी में किसी स्वतन्त्र नाट्य-परम्परा का निर्माण न हो सका था। गोपालराम गहमरी जासूसी उपन्यास लिख रहे थे और बाबू देवकीनन्दन

खत्री तिलिस्मी उपन्यास। अनुवादों की भरमार थी, जिसका तृतीय उत्थान के उपन्यास-साहित्य पर अवश्य ही गहरा प्रभाव पड़ा होगा। इस युग के मौलिक उपन्यासकारों में प० किशोरीलाल गोस्वामी ने अनेक सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास लिखे, जिनकी सख्या ६५ कही जाती है। किन्तु इन रचनाओं में सूक्ष्म मनोविज्ञान, चरित्र-चित्रण आदि में अभी बहुत उन्नति और प्रौढता की गुजाइश थी।

भारतेन्दु युग ने भूमि गोड़ी और बीज-वपन किया। द्विवेदी युग में अनेक तरुलताओं से उपवन लहलहाने लगा था, किन्तु तृतीय उत्थान में शुक्लजी, प्रेमचन्द, 'प्रसाद', 'निराला', पन्त और महादेवी वर्मा के समान उच्चतम कोटि के साहित्यकार हिन्दी ने उत्पन्न किये। इन पर किसी भी साहित्य और युग को गर्व हो सकता है। द्विवेदी युग उस अस्त्र को चमका रहा था और पैना कर रहा था, जिसका तीसरी पीढ़ी के कलाकारों ने कुशल हाथों से प्रयोग किया। हिन्दी की आधुनिक साहित्य-शैली का निर्माण हो चुका था और अनेक उत्कृष्ट कलात्मक प्रयास भी उसके माध्यम से हुए, किन्तु पूर्ण विजय तीसरी पीढी के लेखकों द्वारा हमें मिली।

द्विवेदी युग हमारे देश में गहरी सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। इसी काल-खण्ड में प्रथम यूरोपीय महासमर हुआ जिसने यूरोपीय समाज-व्यवस्था को किसी 'प्रबल झंझावात' से झकझोर दिया। कॉंग्रेस की नींव पड़ चुकी थी और भारतीय राष्ट्र अपनी स्वाधीनता की यात्रा में आगे बढ़ रहा था। इस राजनीतिक भूचाल का प्रभाव तृतीय उत्थान के लेखकों पर आगे चलकर पड़ा। आधुनिक साहित्य की एक प्रमुख भावना देश-प्रेम की भावना है, इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग की रचनाओं में हुई। यद्यपि छायावादी कवियों की अपेक्षा प्रथम दो पीढ़ियों में कलात्मकता—भारतेन्दु आदि कुछेक अपवादों को छोड़ कर—कम है, किन्तु इन युगों की प्रेरणा वहिर्मुखी अधिक है। जिस राष्ट्रीय परम्परा का उत्थान 'भारत-दुर्दशा' से हुआ, उसका द्विवेदी युग में पोषण 'भारत-भारती' तथा 'एक भारतीय आत्मा', 'त्रिशूल', 'नवीन', सुभद्राकुमारी चौहान आदि

की रचनाओं में हुआ। छायावादी युग में यह धारा सरस्वती के समान कुछ काल के लिए भूमि में खो गई, किन्तु पिछले वर्षों में फिर एक बार पृथ्वी को फोड़कर हिन्दी-काव्य की त्रिवेणी में आ मिली है। द्वितीय उत्थान के राष्ट्रवाद का विकसित रूप हम 'नवीन' की रचनाओं में देख सकते हैं। आपकी प्रेरणा गाधीवाद से विशेष प्रभावित हुई है, और आप उन प्रतिभाओं मे हैं, जो द्वितीय उत्थान में अवतरित हुईं और तृतीय मे चमकीं। 'कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ' शीर्षक रचना मे आप लिखते हैं—

नियम और उपनियमो के ये
बन्धन टूक-टूक हों जाएँ,
विश्वम्भर की पोषक वीणा
के सब तार मूक हो जाएँ,
शान्ति-दण्ड टूटे, उस महा-
रुद्र का सिंहासन थर्राये,
उसकी श्वासोच्छ्‌वास-दाहिका
जग के प्राङ्गण में गहराये,
नाश! नाश!! हाँ महानाश!!! की
प्रलयकरी आँख खुल जाये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे अङ्ग-अङ्ग झुलसाएँ...'

यह सब उत्तराधिकार लेकर तृतीय उत्थान के कलाकार आगे बढ़े। जिस उच्च कोटि का साहित्य तीसरी पीढी के लेखकों ने रचा, उसकी तुलना इतिहासकारों ने भक्ति-काल के साहित्य से की है। तृतीय उत्थान को इस दृष्टि से हम फ़सल का समय कह सकते हैं।

तृतीय चरण : नव यौवन

तीसरे युग में 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम', और 'गोदान', 'अजातशत्रु', 'कामना', स्कन्दगुप्त', 'कामायनी', 'आँसू', 'पल्लव', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'अनामिका', 'गीतिका', 'परिमल', 'कुकुरमुत्ता', 'रश्मि', 'नीरजा', 'साध्य-

गीत' और 'दीपशिखा', आचार्य शुक्ल के प्रसिद्ध आलोचनात्मक ग्रन्थ और अनेक नये कलाकारों की महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाश में आईं। इस युग में आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रौढतम रूप हमारे सामने आता है। यह युग काव्य में छायावाद, उपन्यास में प्रेमचन्द, नाटक में 'प्रसाद' और आलोचना में शुक्लजी का युग है।

राजनीतिक दृष्टि से यह युग साम्राज्यवाद की पराजय का युग है। प्रथम महासमर ने साम्राज्यवाद की आर्थिक नींव पूँजीवाद को जड़ से हिला दिया था। भारतवर्ष में जनता ने बड़ी-बड़ी टक्करें विदेशी शासन-सत्ता से लीं। यह नवीन उल्लास हम अपने साहित्य-सृजन में भी देखते हैं। जो राष्ट्रीय नवजागरण भारतेन्दु युग में शुरू हुआ था, उसका अन्तिम चरण इस युग का साहित्य है।

शुक्लजी अपने इतिहास में लिखते हैं कि इस युग में विदेशी साहित्य और विचारधाराओं का बहुत प्रभाव हिन्दी-साहित्य के विकास पर पड़ा, किन्तु हम समय की इस दूरी से कह सकते हैं कि यह प्रभाव अस्वस्थ अथवा गतिरोधक नहीं था। कुछ व्यक्तियों के नये विवाद अथवा वाद चलाने या साहित्यालोचन में नई शब्दावली के प्रयोग से हमारे साहित्यिक विकास की धारा को कोई आघात नहीं पहुँचा। शुक्लजी 'क्लासिकल', रोमाण्टिक, आदि शब्दों के अनाधिकारी प्रयोग के पक्ष में नहीं। उन्हें 'छायावाद' शब्द पर भी आपत्ति थी, किन्तु साहित्य-प्रेरणा को किन्हीं विशेष छेदों में भी बाँधकर सदा के लिए नहीं रखा जा सकता।

तृतीय उत्थान एक दृष्टि से विचित्र साहित्यिक युग है। इस युग का कथा-साहित्य यथार्थवादी है, नाटक-साहित्य ऐतिहासिक है, आलोचना पुरातनवादी और शास्त्रीय है—इस युग के सर्वश्रेष्ठ आलोचक की गति तो यही थी—कविता 'रोमाण्टिक' है। इसे हम युग की बहुमुखी प्रतिभा कह सकते हैं अथवा यह भी कि हमारे उपन्यास में अपेक्षाकृत अधिक जागरूकता और सामाजिक चेतना थी।

हिन्दी का कथा-साहित्य प्रेमचन्द की रचनाओं में पूर्ण-वयः प्राप्त करता

है। प्रेमचन्द के प्रथम प्रयास 'सेवा-सदन' और 'सप्त-सरोज' ही हिन्दी के कथा-साहित्य में नवीन गम्भीरता और गहराई लाए। ऐसा कम ही होता है कि किसी साहित्यकार की आरम्भिक रचनाएँ ही उसकी प्रौढतम रचनाएँ हों। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'ग़बन' 'मानसरोवर'; अथवा 'गोदान' के समान उच्च साहित्यिक श्रेणी की ही रचनाएँ 'सेवा-सदन' और 'सप्त-सरोज' थीं। इस साहित्य में रोचकता और कलात्मकता के साथ-साथ तीव्रतम सामाजिक चेतना भी है। प्रेमचन्द को कथावस्तु पर पूर्ण अधिकार रहता था, चरित्र-चित्रण की जटिलता और गहराई में वह आसानी से उतरते थे; उनकी भाषा में साहित्यिकता के साथ-साथ प्रवाह और सरलता के गुण भी थे, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि प्रेमचन्द ने एक जनवादी दृष्टिकोण अपनाया। वह सामाजिक कुरीतियों पर अपने पूरे बल से आघात करते थे और राजनीतिक और आर्थिक दोहन का अन्त कर देना चाहते थे। प्रेमचन्द की रचनाएँ हिन्दी जनता की साहित्यिक क्षुधा को तो शान्त करती ही थीं, किन्तु उसकी अन्तश्चेतना को भी जगाती थीं। प्रेमचन्द प्रत्येक अर्थ में जनता के कलाकार थे। उनका साहित्य परिमाण में काफ़ी है, किन्तु हिन्दी के दुर्भाग्य से वह असमय चल बसे। फिर भी हिन्दी-साहित्य मे उन्होने एक बड़े अभाव की पूर्ति की और एक महत्त्वपूर्ण कला-रूप पर हिन्दी की मुहर सदा के लिए लगा गए। पण्डित विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक और श्री सुदर्शन भी प्रेमचन्द के अनुवर्ती थे और कथा-साहित्य में प्रेमचन्द की तरह ही उदार, यथार्थवादी परम्परा का पोषण करते रहे।

प्रेमचन्द के परवर्ती कथाकार श्री जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' और यशपाल नये पथों का अनुसरण करते हैं। प्रेमचन्द ने भारतीय किसान को साहित्य में प्रतिष्ठित किया। उनकी दृष्टि भारत के ग्राम-जीवन पर लगी थी। किन्तु नये कथाकारों ने अपना ध्यान मध्यम श्रेणी के जीवन पर केन्द्रित किया, जिसके अंग वे स्वयं थे, और वे नगरों की ओर मुड़े। इस नवीन भूमि को गोड़ना भी आवश्यक था और नये

कथाकारों ने अनन्य सफलता से अपना कर्तव्य निबाहा। जैनेन्द्र के 'परख', 'सुनीता', 'त्याग-पत्र' और 'कल्याणी' मध्यवर्ग की वेदना और विफलताओं का कुशल और मार्मिक चित्रण हैं। भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' में अतीत का सफल चित्र खींचा और ऐतिहासिक उपन्यास की परम्परा को पुष्ट किया। इस दिशा मे श्रीवृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़ कुंडार', 'झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई' आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं। इधर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय, श्री यशपाल और रांगेय राघव ने भी ऐतिहासिक उपन्यास को महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रदान की हैं।

हिन्दी-नाटक को इस काल-खण्ड मे 'प्रसाद' ने अपनी स्मरणीय रचनाओं से समृद्ध बनाने का प्रयास किया। हिन्दी-साहित्य का यह अग अपेक्षाकृत कम विकसित है। इसका कारण यही हो सकता है कि हिन्दी में अभी तक कोई स्वस्थ रगमच की परम्परा नहीं है। भारतेन्दु नाटक मण्डली और व्याकुल नाटक मण्डली ने इस दिशा में सराहनीय प्रयास किया था, किन्तु यह परम्परा सर्वथा आधुनिक किसी प्रकार नहीं थी। इनका कथोपकथन पद्यबद्ध अथवा काव्य-बद्ध होता था और बीच-बीच में गीतों की भरमार रहती थी। इस प्रकार की नाट्य-परम्परा आधुनिक भारतीय जीवन का प्रतिनिधित्व किस प्रकार कर सकती थी? इसी परम्परा का अत्यन्त दूषित रूप हम व्यवसायी नाटक-मण्डलियों के खेलों में पाते हैं।

'प्रसाद' के नाटकों में उच्च कोटि की साहित्यिकता है, किन्तु कथोपकथन में वह गति और प्रवाह नहीं, जो दर्शक का ध्यान निरन्तर अपनी ओर आकर्षित रक्खे। 'प्रसाद' की शैली संस्कृत शब्दावली से अधिक बोझिल है। साधारण जनता उनके नाटकों का रस उठाने में असमर्थ रहती है। उनके अभिनय के लिए एक उच्च श्रेणी की साहित्यिक दर्शक-मण्डली होनी चाहिए। इधर 'प्रसाद' के नाटकों के दो अभिनय प्रयाग विश्वविद्यालय में हुए थे। उनके अनुभव से इस आलोचना की पुष्टि होती है। 'प्रसाद' के नाटकों में इतिहास का गहरा मनन और अध्ययन, कथा-वस्तु का सफल निर्वाह, गम्भीर चरित्र-चित्रण और गहरी अनुभूति आदि गुण

हमें मिलते हैं। इस प्रकार हिन्दी नाटक में एक बड़े अभाव की पूर्ति 'प्रसाद' ने की। अन्य नाटककारों में डा० रामकुमार वर्मा, 'प्रेमी', प० लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उदयशकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाट्यकारों ने आधुनिक नाट्यशैली को अपनाने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, कथानक और कथोपकथन के अविरल प्रवाह के लिये अनावश्यक काव्यमयता का वे बहिष्कार करते हैं। इन नाट्यकारों ने देश और काल से सम्बन्धित सामाजिक समस्याओं को भी अपने नाटकों मे प्रश्रय दिया।

हिन्दी में रंगमच की एक स्वस्थ परम्परा कॉलिज, विश्वविद्यालय आदि के छात्रों और अन्य अव्यवसायी नाटक-मण्डलियों द्वारा बन रही है। इस सम्बन्ध में एकाकी नाटक का विकास महत्त्वपूर्ण है। डा० रामकुमार वर्मा ने पाश्चात्य नाट्य-पद्धति का अध्ययन किया है और रगमच की आधुनिक आवश्यकताओं के अनुसार लिखने का प्रयत्न किया है। आपके नाटकों में काव्य का पुट और बोझिल संवाद कथानक के प्रवाह में अवरोध डालते हैं। आजकल अनेक नाटककार एकाकी लिख रहे हैं; इनमें श्री भुवनेश्वर का 'कारवाँ', जगदीशचन्द्र माथुर का सग्रह 'भोर का तारा' और श्री 'अश्क' के सग्रह विशेष उल्लेख योग्य हैं। इधर भारतीय जन-नाट्य-सघ ने रगमच की परम्परा को विकसित करने का प्रयत्न किया है। सघ की बम्बई शाखा ने अनेक सफल प्रदर्शन बम्बई की हिन्दी जनता के सामने किये हैं। इनमें 'अश्क' के एकाकी 'तूफ़ानो के बीच' का अभिनय साम्प्रदायिक वैमनस्य कम करने के प्रयास में हुआ था।

यह स्पष्ट है कि हिन्दी नाटक का भण्डार उस हद तक भरा-पूरा नहीं है, जैसा हम कविता, उपन्यास, आलोचना आदि साहित्य के अन्य अगों में देखते हैं।

समालोचना को इस युग में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की रचनाओं से बहुत प्रेरणा मिली। शुक्लजी भारतीय साहित्य-शास्त्र और पाश्चात्य समीक्षा विज्ञान से समान रूप से परिचित थे। उनकी दृष्टि वैज्ञानिक थी।

वह बड़ी खोज और परिश्रम के बाद सूक्ष्म और मार्मिक विवेचना करते थे। उनके तुलसी, सूर और जायसी के अध्ययन और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' महान देन हैं। इन रचनाओं मे बहुत गहरी, गम्भीर और निष्पक्ष आलोचना है। किन्तु शुक्लजी की आलोचना-पद्धति आधुनिक साहित्य की परख के लिए सर्वथा उपयुक्त नहीं है। उदाहरण के लिए प० सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य का शुक्लजी द्वारा विश्लेषण देखिए—

" 'वीणा' और 'पल्लव' दोनों में अँग्रेज़ी कविताओं से लिये हुए भाव और अँग्रेज़ी भाषा के लाक्षणिक प्रयोग बहुत से मिलते हैं। कहीं-कहीं आरोप और अध्यवसान व्यर्थ और अशक्त हैं, केवल चमत्कार और वक्रता के लिए रखे प्रतीत होते हैं, जैसे 'नयनों के बाल' आँसू। 'बाल' शब्द जोड़ने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है, जैसे मधुबाल, मधुपों के बाल। शब्द का मनमाने लिंगों में प्रयोग भी प्राय मिलता है। कहीं-कहीं वैचित्र्य के लिए एक ही प्रयोग में दो-दो लक्षणाएँ गुम्फित पाई जातीं हैं—अर्थात् एक लक्ष्यार्थ से फिर दूसरे लक्ष्यार्थ पर जाना पड़ता है, जैसे 'मर्म पीड़ा के हास' में। इसी प्रकार कहीं-कहीं दो-दो अप्रस्तुत भी एक में उलझे हुए पाए जाते हैं, जैसे 'अरुण कलियों से कोमल घाव' ।" (इतिहास, परिवर्द्धित सस्करण, पृष्ठ ६६६)

नवीन जीवन और प्राणों से आकुल काव्य पर यह एक प्राचीन शास्त्रीय दृष्टि का आरोप है। कवि की नवीन भाव-प्रवणता ग्रहण करने में असमर्थ आलोचक लक्षणा और व्यञ्जना की चर्चा करता है, और इस काव्य के साथ न्याय नहीं कर पाता। इसी प्रकार शुक्लजी प्रेमचन्द से शिकायत करते हैं कि उन्होंने ज़मीदारों के प्रति न्याय नहीं किया है। शुक्लजी ने हिन्दी-आलोचना को अभूतपूर्व विदग्धता और गहराई दी, किन्तु आपकी शास्त्रीय दृष्टि प्राचीन कवियों की विवेचना में जिस सूझ का परिचय देती है, आधुनिक साहित्य की परीक्षा में नहीं।

नये साहित्य की परीक्षा के लिए, जो आधुनिक भारतीय जीवन को व्यक्त करता है, नई दृष्टि के समीक्षकों की आवश्यकता थी। वह दृष्टि

शुक्लजी के उत्तराधिकारी आलोचकों को प्राप्त थी। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, प्रो० नगेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय और डा० रामविलास शर्मा आदि तृतीय उत्थान के आलोचक शास्त्रीय-ज्ञान के साथ-साथ आधुनिक साहित्य के प्रति एक अधिक सचेत और उदार भावना भी रखते हैं, और उनकी साहित्यिक परख अधिक सच्ची है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की सबसे ऊँची उड़ान प्रेमचन्द का कथा-साहित्य, शुक्ल जी की समालोचना और छायावादी काव्य हैं। छायावाद ने आधुनिक काव्य-परम्परा को विकसित और परिमार्जित किया, उसके रूप को निखारा और सँवारा और उसके प्राणों में नई प्रेरणा भरी। छायावादी काव्य में भावों की कोमलता, अनुभूति की गहराई और जीवन के प्रति एक संवेदना हैं, जो भक्तिकाल के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है। कल्पना की यह सहज माधुरी और सुकुमारता तो छायावादी काव्य की ही विशेषता है। छायावाद ने हिन्दी-काव्य को एक नवीन, परिष्कृत भाषा दी, जिसकी तुलना, मधुरिमा और सौष्ठव में केवल रीतिकाल की परिमार्जित भाषा से हो सकती है।

छायावाद अन्तर्मुखी, गीति-काव्य की नवीन परम्परा है। इसका नाम-करण 'छायावाद' इसलिए हुआ कि यह काव्य बहिर्जगत् की कुरूपता को भूलकर किसी अव्यक्त सौन्दर्य की खोज करता है। छायावाद का जग गोधूलि के आलोक और छायाओं से झिलमिल है, और उसमें दूर कुछ खोजते हुए का भाव है। उसके स्वर में एक पीड़ा और क्रन्दन है, जिसे हम सन् '२० से '३० तक के संघर्षों को स्मरण कर कुछ समझ सकते हैं। छायावाद रात्रि के आँचल में छिपे प्रियतम को खोजता है, ऊषा की स्वर्ण-किरणों से विहार करते उसे देखता है, किन्तु उसे बाँधकर रोक नहीं सकता। वह निरन्तर इस वेदना को काव्य में स्थान देता है :

पथ देख बिता दी रैन;
मैं प्रिय पहचानी नहीं!

अथवा—तुम्हें बाँध पाती सपने में ।

यह विचार-विन्यास हमें निरन्तर अँग्रेज़ी और बँगला कवियों की कल्पना का स्मरण दिलाता है, किन्तु आधुनिक जीवन के प्रति कवि की यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया है । इस काव्य को हम 'रोमाण्टिक' कहते हैं, क्योंकि इसमें पार्थिव जीवन से विमुखता और अदृश्य जग के प्रति आकर्षण है । यह काव्य जीवन के छिपे, अव्यक्त सौन्दर्य को खोज निकालना चाहता है ।

छायावादी कवि अपने आरम्भिक प्रयोगों में अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत थे, यह 'निराला' की 'बादल', पन्त की 'परिवर्तन' आदि कवितात्रो से स्पष्ट है । 'निराला' सदियो से जकड़े 'हृदय-कपाट' को 'कठिन प्रहार' करके खोलना चाहते हैं । आप देश को नव-जागरण का सन्देश सुनाते हैं—

जागो फिर एक बार ।
उगे अरुणाचल में रवि,
आई भारती-रति कवि कण्ठ मं,
पल-पल में परिवर्तित होते रहे प्रकृति-पट
गया दिन, आई रात,
मुँदी रात, खुला दिन
ऐसे ही ससार के
बीते दिन पक्ष मास,
वर्ष कितने ही हज़ार ।
जागो फिर एक बार ।

पन्त की कविता 'परिवर्तन' हिन्दी काव्य की राष्ट्रीय परम्परा की ही एक कड़ी है । इस परम्परा के एक छोर पर 'भारत-दुर्दशा', 'भारत-भारती' आदि हैं, और दूसरी ओर 'युग-वाणी', 'ग्राम्या' और 'कुकुरमुत्ता' ।

छायावाद का युग गीति-काव्य का युग है। इस युग के महाकाव्य अथवा खण्ड-काव्य उसकी प्रमुख धारा के ही कुछ निखरे अग हैं । 'कामायिनी' महाकाव्य का रूप रखते हुए भी वास्तव में चिन्ता, प्रलय आदि विषयों पर

कथा के धागे मे पिरोए गीतो की एक लड़ी है। गीति-काव्य व्यक्तिवादी और अन्तर्मुखी होता है। छायावादी कवि इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। मध्यकालीन कला और साहित्य की प्रेरणा एक बड़ी हद तक सामूहिक और सामाजिक होती है, वह कुछ विशेष साँचों में ढलती है। इसका उदाहरण भारतीय चित्रकला, सगीत, स्थापत्य और काव्य सभी में मिलता है। आधुनिक समाज-व्यवस्था में व्यक्ति सामाजिक बन्धनो से एक हद तक मुक्ति पाता है; पुराने सामन्ती सम्बन्ध टूट जाते हैं; कला में कलाकार का अहम् अधिकाधिक व्यक्त होने लगता है। 'निराला' लिखते हैं—

मेरे ही क्रन्दन से उमड़ रहा यह तेरा सागर सदा अधीर,
मेरे ही बन्धन से निश्चल—
नन्दन-कुसुम-सुरभि-मधु-मदिर समीर,
मेरे गीतों का छाया अवसाद,
देखा जहाँ, वहीं है करुणा,
घोर विषाद···। (अनामिका)

कवि की अहम्वादिता पहले इस प्रकार विश्व पर आरोपित होती है, और इसको वेदान्त और रहस्यवाद भी कहा गया है; अधिक गहरी और अन्तर्मुखी होकर यह गीति-काव्य की प्रेरणा बनती है और छायावादी कवियों की अद्भुत सृजन-शक्ति का कारण बनती है। 'प्रसाद' के 'आँसू', 'लहर' और 'कामायिनी' से शुरू होकर यह धारा पन्त और निराला के काव्य मे प्रवाहित हुई है और श्रीमती महादेवी वर्मा के अश्रु-विनिर्मित काव्य मे विलीन होती है। इस धारा के साथ हिन्दी के और भी अनेक आधुनिक कवि बहे हैं, जिनका विवरण यहाँ सम्भव नहीं।

छायावाद कोमल, रेशमी ताने-बानों से बुना हुआ काव्य है। वह आधुनिक हिन्दी-काव्य को नई कलात्मक मंजिल पार कराता है। सुन्दर शब्द-विन्यास, कल्पना-विलास, तीव्र अनुभूति आदि गुणों से यह काव्य सुशोभित था। यह काव्य आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रौढता और उसके सौष्ठव का द्योतक है। छायावाद का उत्तराधिकार जिन कवियो ने ग्रहण किया, वे

अहम्‌वादी, दु:खवादी और प्रयोगवादी हैं। इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी उन्हीं के साहित्य में यथार्थवाद और समाजवाद के रूप में निहित है।

नई पौध

सन् '३० के लगभग ही कवियों की एक नई पीढी शुरु होती है, जिसे श्रीयुत नरेन्द्र शर्मा 'छायावाद का उत्तरार्द्ध' कहते हैं। इस नई पीढी के कवि और भी अधिक अहम्‌वादी, अन्तर्मुखी और नियतिवादी हैं। इस नवीन काव्य-धारा का आरम्भ हम श्री भगवतीचरण वर्मा से कर सकते हैं, उसके पोषक सर्वश्री 'बच्चन', 'नरेन्द्र', 'अज्ञेय', 'अचल' आदि हैं। यह कवि अपने चारों ओर गहन कुहासा देखते हैं और उससे बाहर निकलने को उनके प्राण छटपटाते हैं। उनमें से कुछ तो दूर आलोक की किरण भी देख लेते हैं, जैसे 'नरेन्द्र' और 'अचल'। इनकी सामाजिक चेतना अपेक्षाकृत अधिक तीव्र है और इनकी कल्पना एक उदार मानव सस्कृति का स्वप्न देख सकती है, जो शोषण-क्रियाओं का सदा के लिए अन्त कर देगी। एक सीमा तक सभी उपरोक्त कवि इस स्वप्न की झलक देखते हैं, किन्तु इसकी सीमाएँ उनके व्यक्तिवाद ने दृढतर हाथों से उनके काव्य के चतुर्दिक खिंची हैं। इनमें से कुछ कलाकार शैली, उपमाओं, विषयों के प्रयोग और नूतनता में अपनी शक्ति का प्रयोग करते हैं। कला की प्राचीन परम्पराओं से अधिकाधिक वे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने लगते हैं। शैली की दुरूहता के कारण उनकी कला सर्वसाधारण के लिए अग्राह्य बनने लगती है और उनके पाठकों का क्षेत्र अधिकाधिक सकुचित होने लगता है।

इसी प्रकार की प्रवृत्ति हम कथा-साहित्य में भी देखते हैं। प्रेमचन्द और उनके समवर्ती कथाकार यथार्थवादी और सामाजिक परम्परा के पोषक थे। कथाकार के रूप में 'प्रसाद' जी भी इसी परम्परा के अनुगामी थे। 'कंकाल', 'तितली' और 'गुण्डा' सदृश रचनाओं में उन्होंने समाज की कुरूपताओं का दिग्दर्शन कराया और उसे मिटाने का आग्रह कला में व्यक्त किया। किन्तु नवीन पीढी के कलाकार मनोविश्लेषण, शास्त्र से प्रभावित होकर मनुष्य के अन्तस् का चित्र अंकित करना चाहते हैं, इस दृष्टि से घनघोर कुहासा उन्हें

अपने चतुर्दिक् हिलोर मारता दिखाई देता है, और इस अन्धकार से बाहर निकलने का कोई पथ नहीं सूझता। वह जग की कुरूपता से इस प्रकार प्रभावित हो जाते हैं कि उसका कोई प्रतिकार उन्हें नहीं दिखाई देता। श्री इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' आदि इस श्रेणी के उपन्यास हैं। श्री 'अज्ञेय' का वृहत् उपन्यास 'शेखर' एक ही व्यक्ति की कथा है; सुगठित शैली में लिखे इस उपन्यास में सामाजिक जीवन के प्रति उदासीनता पूर्ण रूप से प्रकट होती है।

मनोविश्लेपण के प्रति छायावाद के परवर्ती साहित्य की आसक्ति उपर्युक्त विवेचना से कुछ मालूम हो सकती है। यूरोपीय साहित्य में कला-रूपों के लिए यह प्रभाव घातक सिद्ध हुआ है। हिन्दी मे लेखकों का एक दल फ्रायड, ऑडलर आदि की स्थापनाओं की ओर आकर्षित होकर अपनी सामाजिक चेतना खो रहा था और यह भूल रहा था कि जीवन की विप्र-मताओं में ही प्रगति के तत्त्व भी निहित रहते हैं, और मनुष्य निरन्तर प्रकृति से संघर्ष करके जीवन को बदला करता है। इस निराशा का कारण समाज-शास्त्री और अर्थ-शास्त्री यह बताते हैं कि पुरानी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था आज खण्ड-खण्ड हो रही है; साम्राज्यवाद और पूँजीवाद नित्यप्रति आर्थिक संकट, महासमर और राष्ट्रों के संघर्ष को जन्म देते हैं। मनुष्य की प्राचीन मान्यताएँ आज तार-तार हो चुकी हैं। पुरानी व्यवस्था में पोषित कलाकार अपनी असमर्थता और असहायता पर सिर धुनता है; क्योंकि अभी तक किसी नवीन समाज-व्यवस्था की रूपरेखा उसकी कल्पना में स्पष्ट नहीं हुई। उसे 'हलाहल' से मोह होता है; नियतिवाद को वह अपना जीवन-दर्शन बना लेता है और कहता है—

एक दिन सब पथ मिलेंगे,
तम भरे यम के नगर में।

इसके विपरीत हिन्दी-साहित्य में एक नवीन प्रवृत्ति भी हम पाते हैं, जिसे प्रगतिवाद कहा गया है। इस धारा का आरम्भ सन् '३६ के लगभग 'युगवाणी' की रचनाओं अथवा 'रूपाभ' के जन्म-काल से होता है। इस

धारा को शुक्लजी अपने इतिहास में समाजवादी धारा कहते हैं, और इसका आह्वान इन शब्दों में करते हैं—

"यह देख कर प्रसन्नता होती है कि 'छायावाद' के बँधे घेरे से निकल-कर पन्तजी ने जगत् की विस्तृत अर्थभूमि पर स्वाभाविक स्वच्छन्दता के साथ विचरने का साहस दिखाया है। सामने खुले हुए रूपात्मक व्यक्त जगत से ही सच्ची भावनाएँ प्राप्त होती हैं, 'रूप ही उर मे मधुर भाव बन जाता है', इस 'रूप-सत्य' का साक्षात्कार कवि ने किया है।

"शहद चाटने वालों और गुलाब की रूह सूँघने वालो को चाहे इसमें कुछ न मिले, पर हमें तो इसके भीतर चराचर के साथ मनुष्य के सम्बन्ध की बड़ी प्यारी भावना मिलती है। 'झंझा मे नीम' का चित्रण भी बड़ी स्वाभाविक पद्धति पर है। पन्तजी को 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' से निकलकर स्वाभाविक स्वच्छन्दता (True Romanticism) की ओर बढते देख हमें अवश्य सन्तोष होता है।" (पृष्ट ८६०–६२)

यह नवीन साहित्यिक धारा यथार्थवाद की ओर उन्मुख है, कलाकार के सामाजिक दायित्व के प्रति आग्रह दिखाती है और एक नवीन शोषणरहित संस्कृति में आस्था रखती है। निस्सदेह ही इस नई साहित्यिक प्रवृत्ति ने लेखकों को उनके एकाकीपन और अहवाद से मुक्त किया है और अधिक स्वस्थ कला-निर्माण के लिए उन्हें प्रेरित किया है। इस आन्दोलन के साथ प्रेमचन्द, पन्त और 'निराला' के नाम सम्बद्ध हैं। नई पीढ़ी के अनेक मेधावी लेखक इसी धारा के अन्तर्गत आते हैं। कवियो में सर्वश्री नरेन्द्रशर्मा, 'अचल', 'सुमन', 'दिनकर' गिरजाकुमार माथुर, केदार, नागार्जुन, शील आदि हिन्दी के तरुण, यशस्वी कवि अपनी कृतियों से हिन्दी-साहित्य को गौरव प्रदान कर रहे हैं। इसी प्रकार कथा-साहित्य में यशपाल, रागेय राघव चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, राहुल साकृत्यायन,भगवतशरण उपाध्याय आदि नित्य-प्रति हिन्दी साहित्य को सर्वांग-सुन्दर बनाने में तल्लीन हैं। इन कलाकारों ने हिन्दी-साहित्य में एक बार फिर सामाजिक दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित किया है।

आलोचना में नवीन मार्क्सवादी पद्धति को शिवदानसिंह चौहान, राम-

विलास शर्मा, अमृतराय आदि ने अपनाया है। नये आलोचक किसी भी कला-कृति को उसकी सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि में रखकर देखते हैं। ये काल-विशेष की सामाजिक परिस्थितियों और उसके कला-सृजन में एक अंतरग सम्बन्ध देखते हैं और उसका विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं। वास्तव में आज दो धाराओं का सघर्ष युग-साहित्य मे चल रहा है; एक मनोविश्लेषण पद्धति जो साहित्य को अधिकाधिक रूपहीन और अहवादी बनाती है, दूसरी समाजवादी पद्धति जो कलाकार को उसके सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत करती है।

इसी सम्बन्ध मे हमें जन-कवियों का भी उल्लेख कर देना चाहिए। हिन्दी के जनपदों मे इस नव-जागरण की चेतना अच्छी तरह पैठ चुकी है। व्रज-मण्डल, भोजपुर, मगध आदि प्रदेशों के जन-कवि दर्जनों की तादाद मे अपनी बोलियों में कविता कर रहे हैं। इस सास्कृतिक चेतना का हिन्दी-साहित्य में स्वागत होना चाहिए, क्योंकि इससे हमारा साहित्य जनता तक पहुँचकर अपनी जड़ें मज़बूत करेगा।

उपसंहार

हिन्दी का आधुनिक साहित्य एक शताब्दी पार कर चुका है। इस दीर्घकाल में इसने परिवर्तन और विकास की एक लम्बी साहित्यिक मंज़िल पार की है। मध्यकालीन रूढियों में फँसे हिन्दी साहित्य को नये युग ने मुक्त किया और एक नई सजीव परम्परा में दीक्षित किया। आधुनिक युग साहित्य की सामन्ती परम्परा का अन्त करता है; इस परम्परा का ह्रास सामन्ती समाज-विधान के क्षय के साथ अवश्यम्भावी हो गया था। नये सामाजिक और आर्थिक सगठन ने देश में एक नई संस्कृति को जन्म दिया, जिसका पोषक, भारतीय इतिहास की नई प्रबल शक्ति मध्यम बुद्धिजीवी वर्ग है। अंग्रेजो के सपर्क से भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन मे विराट् परिवर्तन हुए, उद्योग-धन्धो, फ़ैक्टरियों, प्रेस, तार, डाक और यातायात के नये साधनों ने भारतीय जीवन में नई क्रान्ति की। विदेशी शासकों ने देश के आर्थिक शोषण के लिए ही यह यन्त्र-सचय भारत में किया था। पाश्चात्य

सस्कृति और विचार-दर्शन के सम्पर्क मे देश में नवीन जागरण की लहर उठी, किन्तु यह लहर भारतीय जीवन की वास्तविकता से ही प्रेरित हुई थी।

भारत के नवीन सामाजिक जीवन और सस्कृति को आधुनिक साहित्य स्वर देता है। इस आधुनिक साहित्य की क्या विशेषताएँ हैं, जो मध्यकालीन साहित्य से उसे पृथक् करती हैं?

मध्यकालीन साहित्य की एक सामूहिक और शास्त्रीय परम्परा थी, जो उस युग के अन्त होने पर लुप्त होने लगी। आधुनिक युग के कलाकार शास्त्र की अपेक्षा जीवन से प्रेरणा पाते हैं, उनका दृष्टिकोण अधिक व्यक्तिवादी है, इसी गुण को कुछ इतिहासकारों ने 'स्वच्छन्दतावादी' अथवा 'रोमाण्टिक' कहा है। यह भी कह सकते हैं कि मध्यकालीन साहित्य रीतिवादी है, आधुनिक साहित्य परम्परा से प्रवाहित होते हुए भी रीति-विरोधी है, व्यक्ति की प्रेरणा के सामने वह रीति की उपेक्षा करता है। सन्त कवियों ने जनता के लिए साहित्य-सृजन किया था, उनका लक्ष्य समाज-मगल था। सन्त कवि साहित्य के इतिहास में एक असाधारण धारा है। उसके अतरिक्त अन्य मध्यकालीन साहित्य दरबारों में पोषित हुआ था। आधुनिक साहित्य सामन्तों के प्रभाव से निकलकर जनता को अपना अवलम्ब और सबल बनाता है। यह जनता शिक्षा की सीमाओं पर निर्भर थी, किन्तु उन सीमाओं का निरन्तर विस्तार हो रहा था। मनुष्य, समाज, प्रकृति, चराचर के प्रति आधुनिक साहित्य की एक स्वतन्त्र दृष्टि है, जो शास्त्रीय अथवा रूढि-बद्ध न होकर यथार्थ के अधिक समीप है और उसी से प्रेरणा पाती है। मध्यकालीन साहित्य की अपेक्षा आधुनिक साहित्य का दृष्टिकोण पार्थिव भी अधिक है। आधुनिक कवि देश की, मनुष्य की, प्रकृति के साक्षात रूप की वन्दना करता है और इनके प्रति सामीप्य अनुभव करता है। वह कहता है—

इस धरती के रोम रोम में
भरी सहज सुन्दरता,
इसकी रज को छू प्रकाश
बन मधुर विनम्र निखरता,

पीले पत्ते, टूटी टहनी,
छिलके, कंकर, पत्थर,
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर
लगता सार्थक, सुन्दर ।...

("युगवाणी", 'मानवपन')

एक शताब्दी के दीर्घकाल में आधुनिक साहित्य के दृष्टिकोण में अनेक परिवर्तन हुए, जिनकी कुछ विवेचना ऊपर हो चुकी है। भारतेन्दु युग में साहित्य की नई परम्परा का अभ्युत्थान हुआ। भारतेन्दु युग के लेखकों की दृष्टि बहिर्मुखी थी; उनका दृष्टिकोण सामाजिक था, किन्तु युग के प्रमुख लेखकों को छोड़कर अन्य औसत कलाकारों की रचनाओं में अधिक साहित्यिक प्रौढ़ता न थी। वे नवीन शैलियों और कला-रूपों को गढ रहे थे। यह ऊपर कहा जा चुका है कि आधुनिक साहित्य की विशेषता गद्य-साहित्य और उसके विविध रूपों—उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, उपयोगी साहित्य, आदि—का विकास है। भारतेन्दु युग के लेखक हिन्दी गद्य की भाषा, खड़ीबोली, की रूप-रेखा निर्धारित कर रहे थे, और कथा-साहित्य, निबन्ध आदि का आरम्भिक रूप स्थिर कर रहे थे। द्विवेदी युग ने इन शैलियों और साहित्य-रूपों का परिमार्जन और विकास किया; कविता, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध आदि में इस काल-खंड ने हिन्दी साहित्य की सीमाओं का विस्तार किया। हिन्दी-पाठकों की संख्या इस युग में बहुत बढ़ी, और खड़ीबोली का साहित्यिक रूप स्थिर हुआ। तृतीय उत्थान में आधुनिक साहित्य प्रौढ़ता की चरम सीमा तक पहुँचा, भाषा में नई माधुरी, कोमलता और व्यापकता आई; उपन्यास, कहानी, नाटक, आलोचना, काव्य; निबन्ध और उपयोगी साहित्य, सभी दिशाओं में अभूतपूर्व विकास हुआ और पूर्ण-वयः प्राप्त हिन्दी-साहित्य अन्यान्य युगों और देशों के साहित्य का समकक्षी बनने का अधिकारी हुआ। इसी काल-खण्ड में हिन्दी-साहित्य में कुछ नवीन प्रवृत्तियों का आविर्भाव और प्रसार हुआ। यह प्रवृत्तियाँ सर्वप्रथम काव्य में प्रकट होती हैं; और क्रमशः साहित्य के अन्य अंगों को प्रभावित करती

हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य ने अभी तक युग-चेतना का नेतृत्व किया था, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों और उथल-पुथल में हिन्दी के साहित्यकार अग्रगामी रहे थे, किन्तु बढ़ते आर्थिक और सामाजिक संघर्ष और संकट के युग में नये कलाकारों की प्रेरणा अन्तर्मुखी और अहंवादी होने लगी। वे निराशावादी और नियतिवादी बन गये अथवा टेकनीक के प्रयोगों में अपनी प्रतिभा विकीर्ण करने लगे। अपनी काव्य-भूमि की विवेचना के रूप में इस परिस्थिति का मार्मिक और हृदयग्राही वर्णन श्री नरेन्द्र शर्मा ने 'प्रवासी के गीत' की भूमिका में किया है। इस विषम परिस्थिति से निकलने का प्रयत्न युग के नये कलाकारों ने किया, जिसे भविष्य के इतिहासकार सम्भवतः आधुनिक युग का चतुर्थ उत्थान कहें। इस साहित्य की विशेषता यथार्थवाद अथवा बुद्धिवाद कह सकते हैं। नये लेखकों की दृष्टि वैज्ञानिक है, उनकी सामाजिक चेतना तीव्र है, उन्हें नव-संस्कृति के स्वप्न की प्रेरणा उद्वेलित कर रही है। इस प्रकार अहंवाद और प्रयोगवाद के अंधकूप से आधुनिक साहित्य का निकलना निश्चित है।

जिन वादों और प्रभावों से आधुनिक साहित्य रँगा हुआ है, उनमें विज्ञान, समाजवाद, मनोविश्लेषण विज्ञान, यथार्थवाद आदि प्रमुख हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य आज विद्रोह के मार्ग पर चल रहा है। वह सभी कुछ 'जीर्ण और पुरातन' भस्मीभूत कर देना चाहता है, किन्तु सृष्टि और पुनर्निर्माण की क्रिया भी विध्वंस के साथ ही चलती है। आधुनिक साहित्य भारत के आधुनिक जीवन को प्रतिबिम्बित और चित्रित करता है, उसकी वेदना, कुरूपता, विवशताएँ, आशाएँ और आदर्श, आधुनिकता की समस्त जीवन-प्रेरणा और व्यथा वह व्यक्त करता है। आधुनिक युग ने अपना नया जीवन-दर्शन और मार्ग प्रशस्त किया है। उसकी दृष्टि पृथ्वी और आकाश के नये रूप देख रही है। इनका सांगोपांग वर्णन हम नये साहित्य में पाते हैं। आधुनिक साहित्यकार नये जीवन-अनुभव और जगत् के किनारे खड़ा सीपी और मोती बटोर रहा है। कवि की नई दृष्टि का वर्णन पंतजी ने 'युगवाणी' में इस प्रकार किया है :—

खुल गए छन्द के बंध,
प्राश के रजत पाश,
अब गीत मुक्त,
औ' युग वाणी बहती अयास !
बन गए कलात्मक भाव
जगत के रूप नाम,
जीवन सघर्षण देता सुख,
लगता ललाम ।........

कला-रूपों की विविधता और 'अनेकरूपता' आधुनिक साहित्य की अपनी विशेषता है। इस युग ने कथा-साहित्य, नाटक, निबंध, आलोचना आदि का विकास ही नहीं किया, वरन् इन रूपों में निरतर नवीन शैलियों का प्रयोग करके उन्हें पुष्ट और समृद्ध भी बनाया है । प्रयोगशीलता का साहित्य मे अपना महत्त्व है, यद्यपि यह निर्विवाद है कि नवीन जीवन-प्रेरणा को व्यक्त करने के लिए ही कला-रूपों में नये प्रयोग सफल होते हैं, प्रयोग के लिए प्रयोग करके नहीं।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के सिंहावलोकन से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि यह हिन्दी के इतिहास में अभूतपूर्व उन्नति का युग है। सभी साहित्य-रूपों का इस युग ने विकास किया और हिन्दी की सीमाओं का विस्तार किया। आधुनिक जीवन की अनेकरूपता, विविधता और सवेदना का वह सम्यक् और समर्थ प्रतिनिधि है। निरन्तर उसका विकास और प्रस्फुटन हो रहा है। आशा है आगे चलकर और भी अधिक प्रौढ़ता उसमें आयेगी और भी देश अथवा काल के साहित्य की तुलना में वह हल्का न उतारेगा।

प्रेमचन्द : कहानीकार

: १ :

हिन्दी के पाठक को साहित्य की शिक्षा और दीक्षा देने में प्रेमचद की कहानियो का बहुत बडा हाथ रहा है। पिछली पीढी के हिन्दी-प्रेमी तो बगला और मराठी के अनुवाद भी पढते थे, लेकिन आज की पीढी प्रेमचद-साहित्य पर ही पलती है। स्वय मेरी साहित्यिक शिक्षा प्रेमचन्द के कहानी-सग्रह 'सप्त-सरोज' से शुरू हुई थी। इस सग्रह की कहानियाँ पढकर मन बहुत उद्वेलित हुआ था, जैसे किसी ने सब भावनाओं को मथ दिया हो। एक बड़ा तूफान-सा हृदय में उठ खड़ा हुआ था। इस सग्रह की कहानियों का क्रम अब भी स्मरण है, यद्यपि इस घटना को लगभग तीस वर्ष बीत चुके हैं। 'बड़े घर की बेटी', 'नमक का दरोग़ा', 'पच परमेश्वर' आदि मनुष्य का उच्चतम रूप सामने लाती हैं और पाठक को भी श्रेष्ठतर मनुष्य बनाती हैं। घटना-क्रम और चरित्र के विकास से पाठक के मन पर यह प्रभाव पड़ता है। एक विचित्र ससार में वह अपने-आप को पाता है—किसी गाँव में, जहाँ कौए पेड़ों पर बैठकर पचायत करते हैं, धूल-धक्कड़ रहता है, जहाँ रेशमी स्लीपर और क़ालीनों के लिए कोई स्थान नहीं, जहाँ सब एक-दूसरे का तिल-तिल रहस्य जानते हैं। यहाँ महाजन सूद खाता है, पण्डित जी मोटे होते हैं, व्यापारी बैलों के प्राण तक खींच लेता है, घूस चलती है और ज़मींनदार, उसके कारिन्दों और पुलिस का एकछत्र राज्य है। इस ससार में प्रेमचन्द कुछ पात्र पेश करते है, इनका यथार्थवादी चित्रण वह करते हैं। सभी दुर्बलताएँ और स्वाभाविक सीमाएँ वह दिखाते हैं। जब कहानी की गति अपने चरम-बिन्दु तक पहुँच जाती है, तब वह अनायास ही एक मोड़ लेती है—मनुष्यता की जीत होती है, अन्धकार की शक्तियाँ हारती हैं।

यह है प्रेमचन्द की आरम्भिक कहानियों की गति। 'बड़े घर की बेटी' अपने देवर से लड़ती है, उसे जली-कटी बातें कहती है, अपने पति से शिकायत करती है, रोती है। लेकिन जब वह घर छोड़ने पर उतारू हो जाता है, तो पत्नी की सब उदार भावनाएँ जाग उठती हैं। वह देवर को क्षमा कर देती है। इसी प्रकार पञ्च के पद पर बैठकर मनुष्य छल, पक्षपात और अन्याय करने में असमर्थ हो जाता है; मनुष्यत्व की विजय होती है।

इन कहानियो को तीस-पैंतीस वर्ष से हिन्दी का पाठक पढ रहा है— इन कहानियों को और बंकिम, शरद् और रवि ठाकुर के अनुवादों को। इसके पूर्व वह तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास पढता था, क़िस्सा तोता-मैना और बैताल-पच्चीसी पढता था। इस नये कथा-साहित्य में पाठक को तिलिस्मी और जासूसी कथाओं के ही समान आकर्षक रोचकता मिली, किन्तु साथ-ही-साथ उसके मनुष्यत्व को निखारने और परिष्कृत करने वाला एक गुण भी मिला। उसे समाज की समस्याओं का चित्र भी मिला, जिसकी अपेक्षा वह अब तक कथा-साहित्य से न करता था।

जिस क्रम से प्रेमचद की कहानियाँ प्रकाशित हुईं, वह लगभग इस प्रकार था : (१) सप्त-सरोज; (२) नव-निधि; (३) प्रेम-पूर्णिमा, (४) प्रेम-पच्चीसी, (५) प्रेम-प्रतिमा; (६) प्रेम-द्वादशी; (७) समर-यात्रा, (८) मानसरोवर; भाग १ और २; (६) कफ़न।

यह क्रम कहानीकार के रूप मे प्रेमचद का विकास हमे बताता है। 'सप्त-सरोज' प्रथम महासमर के काल में प्रकाशित हुई और 'कफन' सन् १६३७ मे उनकी मृत्यु के बाद। आपने उर्दू में सन् १६०७ से ही कहानियाँ लिखना शुरू किया था, और आपका पॉच कहानियो का सग्रह 'सोज़े-वतन' सन् १६०६ मे प्रकाशित हुआ था। हिन्दी मे आपकी कहानियाँ पहले महासमर के समय निकलनी शुरू हुई थीं। मुझे याद है कि 'सप्त-सरोज' की प्रति मुझे स्कूल से सन् १६१८ मे पारितोषिक के रूप में मिली थी, जब मैं तीसरी कक्षा मे पढ़ रहा था।

अनेक पीढ़ियाँ प्रेमचंद-साहित्य पर पल चुकी हैं। यह कहना कोई

अतिशयोक्ति नहीं कि भारत के तीन सर्वश्रेष्ठ आधुनिक लेखकों में प्रेमचद की गणना होनी चाहिए। इनका साहित्य पढकर भारतीय शिक्षित-वर्ग का मानसिक विकास हुआ है, और उसकी जीवन-अनुभूति तीव्रतम हुई है। शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह तीन लेखक रवि ठाकुर, शरद् बाबू और प्रेमचद हैं।

: २

प्रेमचद की प्रतिभा और कला का विकास भारत की विशेष परिस्थितियों में हुआ। यह बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध का भारत है। इस युग में भारतीय जनता की ब्रिटिश शाम्राज्यवाद से अनेक टक्करें हुईं। यद्यपि इन सघर्षों में राष्ट्रीय नेतृत्व की नीति शत्रु पर दबाव डालकर उससे समझौता करने की थी, जनता निरन्तर अपने प्राण और शक्ति इन सघर्षों में होम कर रही थी और उसके भ्रम नेताशाही के प्रति काफ़ी हद तक क़ायम थे। सन् '३०— '३२ के बाद यह भ्रम टूटने लगे। इस काल में मज़दूर और किसान जनता के भी स्वतन्त्र, शक्तिशाली सगठन बने, उन्होंने शत्रु पर अनेक वार किये, राजनीतिक आम हड़तालें हुईं, और भूमि-सम्बन्धों के आमूल परिवर्तन का सवाल उठा। सन् १९०८ में तिलक की गिरफ़्तारी के अवसर पर बम्बई के मज़दूरों की एक राजनीतिक आम हड़ताल हुई, जिसका लेनिन ने स्वागत किया था।

यही क्रान्तिकारी भारत प्रेमचद-साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। उनका निजी जीवन भीषण सघर्ष में बीता। बड़ी मुश्किल से ट्यूशन आदि करके वह अपनी पढाई चला पाते थे। अपने कठोर जीवन-सघर्ष का वर्णन प्रेमचद ने 'जीवन-सार' नाम के आत्म-परिचय में इस प्रकार किया है—

"पाँव में जूते न थे, देह पर साबित कपड़े न थे। मॅहगी अलग—१० सेर के जौ थे। स्कूल से साढे तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्वीन्स कॉलिज में पढ़ता था। हेड मास्टर ने फ़ीस माफ़ कर दी थी। इम्तिहान सिर पर था और मैं बाँस के फाटक एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों

के दिन थे। चार बजे पहुँचता था; पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात पाँच मील पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच सकता। प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था, नहीं, वक्त पर स्कूल न पहुँचता। रात को भोजन करके कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बाँधे हुए था।"[१]

बड़ी कठिनाई से कुछ शिक्षा प्राप्त करने के बाद प्रेमचद को १८ रुपये महीने की मास्टरी मिली। इसे उन्होंने बड़ा भारी सौभाग्य समझा था। बाद में वह शिक्षा-विभाग में सब-डिप्टी इन्सपेक्टर हो गए थे। उनकी कहानियाँ नवाबराय के छद्म-नाम से छपने लगी थीं, किन्तु सरकार को पता चल गया कि 'सोज़े वतन' की विद्रोही भावना से भरी कहानियों का लेखक एक सरकारी कर्मचारी है। प्रेमचद को आज्ञा मिली कि पुस्तक की सब प्रतियाँ सरकार के हवाले कर दी जायँ और वह कलक्टर साहब के हुक्म से जला दी गईं।

सन् '२० में जब सत्याग्रह आन्दोलन की आँधी चल रही थी, प्रेमचन्द ने बीस साल की सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दिया और इसके बाद अपना पूरा समय साहित्य रचना में लगाया। इस वक्त तक उनकी अनेक कहानियाँ 'सरस्वती' में निकल चुकी थीं, और वे 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' लिख चुके थे।

इस कठोर जीवन-संघर्ष में लीन भारत का अंतरंग परिचय हमें प्रेमचद की दो सौ से ऊपर कहानियों में मिलता है। प्रेमचंद की कहानियों का चित्रपट विशाल है। भारतीय जीवन के अत्यत करुण और मर्मस्पर्शी चित्र हमें इस साहित्य में मिलते हैं। हम देखते हैं मुक्ति के पथ पर बढ़ते अनेक धूलि-धूसरित पग, सत्याग्रह, विदेशी कपड़ों का बहिष्कार, मदिरानिषेध आदि के चित्र। इनका एक अलग ही सग्रह है : 'समर-यात्रा'। वह सन् '३० के आंदोलन से प्रभावित कहानियाँ हैं।

---

१. 'कफन', पृष्ठ ८४—८५

हम सामन्ती भारत के ग्राम-चित्र यहाँ बड़ी भारी संख्या में पाते हैं। यह प्रेमचंद-साहित्य की विशेष देन है। भारतीय किसान के इतने मर्मस्पर्शी और हृदयद्रावक चित्र अन्य कोई साहित्यकार नहीं उतार पाया। ग्राम-जीवन के सम्पूर्ण शोषण की क्रूर कथा यहाँ हमें मिलती है। ज़मींदार का आतंक, महाजन और पण्डों का शोषण, कारिन्दों और पुलिस का अत्याचार, ग्रामजीवन का भयानक दैन्य और ग़रीबी—सभी के चित्र इस साहित्य में अंकित हैं।

'सवा सेर गेहूँ' में प्रेमचंद बताते हैं कि किस प्रकार एक बार 'सवा सेर गेहूँ' उधार लेकर किसान महाजन का पुश्त-दर-पुश्त ग़ुलाम हो गया। 'सद्-गति' में वह एक चमार की मृत्यु का वर्णन करते हैं, जो पण्डित जी के पास साइत पूछने के लिए गया था, किन्तु जिस पर भूखे-प्यासे अंधाधुन्ध काम लाद दिया गया। 'ठाकुर का कुआँ' में वह एक अछूत की मृत्यु का वर्णन करते हैं, जो ठाकुर के कुएँ से साफ़ पानी नहीं पा सकता, यद्यपि वह बीमार है और प्यास से छटपटा रहा है। इसी प्रकार 'पूस की रात' में वह एक गरीब किसान का चित्र खींचते हैं, जो सरदी में ठिठुर रहा है और किसी प्रकार पत्तियाँ जला-जलाकर रात काटता है। 'कफ़न' में वह एक चमार-परिवार का चित्र खींचते हैं, जिनके यहाँ बहू मर गई है, किन्तु जिनके पास उसकी अन्तिम क्रिया और कफन के लिए भी पैसा नहीं।

इसी दलित, त्रस्त भारत के करुण चित्र प्रेमचंद के साहित्य में हम निरन्तर पाते हैं। सामंती समाज कितना गिर चुका था, इसका परिचय 'शतरंज के खिलाड़ी' के समान कहानियों में है। वाजिद अली शाह के लखनऊ का बड़ा सजीव चित्र इस कहानी में है .

"लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक के ही मज़े लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग धंधों में, आहार-व्यवहार

में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी।...संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को ख़बर न थी। बटेर लड़ रहे हैं, तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फक़ीरों को पैसे मिलते, तो वे रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मादक पीते"।

"राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन-दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फरयाद सुनने वाला न था। देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंची आती थी और वह वेश्याओं में, भाँडों में और विलासिता के अंगों की पूर्ति में उड़ जाती थी।"

प्रेमचंद की कहानियों में हमें इस सामन्ती और साम्राज्यवादी शोषण से त्रस्त भारत का केवल चित्र ही नहीं मिलता, वरन् इस व्यवस्था के विरुद्ध अनवरत विद्रोह भी। 'जुलूस' नाम की कहानी मे प्रेमचन्द भारतीय जनता के मुँह पर स्वराज्य की आकांक्षा और उल्लास देखते हैं :

"आज उनके चेहरों पर एक नई स्फूर्ति, एक नया उत्साह, एक नया गर्व झलकता हुआ मालूम होता था। स्फूर्ति थी वृद्धों के चेहरों पर, उत्साह युवकों के और गर्व रमणियों के। यह स्वराज्य के पथ पर चलने का उल्लास था। अब उनकी यात्रा का लक्ष्य अज्ञात न था, पथ-भ्रष्टों की भाँति इधर-उधर भटकना न था, दलितों की भाँति सिर झुका कर रोना न था।"..

सदा से पद-दलित वर्ग भी अब अपनी शक्ति का अनुभव करने लगे हैं। 'जुलूस' का एक प्रमुख पात्र मैकू कहता है .

"बड़े आदमियों को तो हमीं लोग बनाते-बिगाड़ते हैं या कोई और ? कितने ही लोग, जिन्हें कोई पूछता भी न था, हमारे ही बनाये बड़े आदमी बन गये और अब मोटरों पर निकलते हैं और हमें नीच समझते हैं।"

सामंती व्यवस्था से दलित त्रस्त जनता के सभी अंग विद्रोह करने लगे हैं:

"कुएँ पर दो स्त्रियाँ पानी भरने आई थीं। उनमें बातें हो रही थीं :

" 'खाना खाने चले और हुकम हुआ कि ताजा पानी भर लाओ। घड़े के लिए पैसे नहीं हैं।'

" 'हम लोगों को आराम से बैठे देखकर जैसे मरदों को जलन होती है।'

" 'हाँ, यह तो न हुआ कि कलसिया उठाकर भर लाते। बस, हुकम चला दिया कि ताज़ा पानी लाओ, जैसे हम लौंडियाँ ही तो हैं!'

" 'लौंडियाँ नहीं तो और क्या हो तुम? रोटी-कपड़ा नहीं पातीं? दस-पाँच रुपये भी छीन झपटकर ले ही लेती हो। और लौंडियाँ कैसी होती हैं?' "[1]

इसी कहानी में अछूत गंगी का हृदय भी ऊपर के वर्गों के प्रति विद्रोह की अग्नि से जल उठा है। उसका पति बीमार है, वह प्यासा है। अछूतों के कुएँ का पानी गंदा हो गया है, क्योंकि उसमे कोई मरा जानवर गिर पड़ा है। ठाकुर के कुएँ से अछूत होने के कारण वह पानी ले नहीं सकती।

"गंगी का विद्रोही दिल रिवाजी पाबन्दियों और मजबूरियां पर चोटें करने लगा—हम क्यों नीच हैं और ये लोग क्यों ऊँच हैं? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं! यहाँ तो जितने हैं एक-से-एक छटे हैं। चोरी ये करें, जाल-फ़रेब ये करें, झूठे मुक़दमे ये करें। अभी इसी ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गड़रिये की एक भेड़ चुरा ली थी और बाद को मारकर खा गया। इन्हीं पण्डित जी के घर में तो बारहों मास जुआ होता है। यही साहु जी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। काम करा लेते हैं, मजूरी देते नानी मरती है। किस बात में हैं हमसे ऊँचे?"

स्वराज्य की एक कल्पना प्रेमचन्द के मस्तिष्क में थी। यदि आज वे जीवित होते, तो देख सकते कि किस प्रकार जनता की आशाओं पर तुषार-पात हुआ है। 'कफन' संग्रह की एक कहानी 'आहुति' की एक पात्रा कहती है—"अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और

१. ठाकुर का कुआँ

पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूँगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। अंग्रेज़ी महाजनों की धन-लोलुपता और शिक्षितों का स्वहित आज हमे पीसे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिए आज हम प्राणों को हथेली पर लिये हुए हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिए सिर चढ़ायेगी कि वे विदेशी नहीं स्वदेशी हैं ? कम-से-कम मेरे लिए तो स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविन्द बैठ जायँ। मै समाज की ऐसी व्यवस्था देखना चाहती हूँ, जहाँ कम-से-कम विषमता को आश्रय मिल सके ?"

यही जीवन प्रेमचद की कहानियों की सामाजिक पृष्ठभूमि है।

: ३ :

कहानी-कला पर प्रेमचंद ने अनेक बार अपने विचार व्यक्त किये थे। 'कुछ विचार' के नाम से अलग से भी यह प्रकाशित हुए थे। 'प्रेम-द्वादशी' की भूमिका मे वह लिखते हैं :

"गल्पो का आधार कोई न-कोई दार्शनिक तत्व या सामाजिक विवेचना अवश्य होता है। ऐसी कहानी, जिसमें जीवन के किसी अग पर प्रकाश न पड़ता हो, जो सामाजिक रूढ़ियों की तीव्र आलोचना न करती हो, जो मनुष्य में सद्भावों को दृढ़ न करे, या जो मनुष्य में कुतूहल का भाव न जाग्रत करे, कहानी नहीं है।"

'प्रेम-पीयूष' की भूमिका मे वह लिखते हैं : "वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियो की मात्रा अधिक होती है; बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।..."

आगे चलकर वह कहते हैं : "हम कहानी ऐसी चाहते हैं कि वह थोड़े-से-थोड़े शब्दों में कही जाय, उसमें एक वाक्य, एक शब्द भी अनावश्यक न आने पावे, उसका पहला ही वाक्य मन को आकर्षित कर ले और अन्त तक उसे मुग्ध किये रहे, उसमें कुछ चटपटापन हो, कुछ ताज़गी हो,

कुछ विकास हो, और इसके साथ ही कुछ तत्व भी हो। तत्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले ही हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए, मन में सुन्दर भावों को जाग्रत करने के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य चाहते हैं।"

प्रेमचन्द में कहानीकार के असाधारण गुण थे। उनके आविर्भाव के साथ हिन्दी-कहानी अनायास ही साहित्य के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाती है। इसके अनेक कारण थे। प्रेमचन्द का अपना जीवन-अनुभव तीव्रतम था। उनका यौवन युद्धकालीन और युद्धोत्तर भारत में बीता, जब देश का जीवन क्रान्तिकारी उभार पर था। प्रेमचन्द का विश्वास था कि साहित्य का सामाजिक जीवन से अन्यतम सम्बन्ध होना चाहिए। उनकी सहानुभूति समाज के निम्नतम् वर्गों के साथ थी और इस जीवन का उन्हें घनिष्ठ परिचय था। 'प्रेम-पीयूष' की भूमिका में वह कहते हैं—

"जिस देश के ८० फी सदी मनुष्य गाँवों में बसते हों, उसके साहित्य में ग्राम्य जीवन ही प्रधान रूप से चित्रित होना स्वाभाविक है। उन्हीं का सुख राष्ट्र का सुख, उनका दु.ख राष्ट्र का दु ख और उन्हा की समस्याएँ राष्ट्र की समस्याएँ हैं।"

पुराने क़िस्से-कहानियाँ निरन्तर पढ़ते रहने से प्रेमचन्द कथानक को रोचक बनाने में सिद्धहस्त हो गये थे। पश्चिम की आधुनिक कहानी-कला से उन्होंने कहानी में सामाजिक जीवन प्रतिबिम्बित करना और यथार्थ और मनोविज्ञान की भूमि पर उसे आधारित करना सीखा। अपने सामाजिक दृष्टिकोण के कारण प्रेमचन्द भारत के क्रान्तिकारी प्राणों का स्पन्दन अपनी कहानी-कला में भर सके। उन्हें अच्छी तरह ज्ञात था कि पश्चिम का अन्धानुकरण करने से कोई लाभ नहीं। 'प्रेम-द्वादशी' की भूमिका में वह कहते भी हैं—"हमने उपन्यास और गल्प का कलेवर यूरोप से लिया है, लेकिन हमें इसका प्रयत्न करना होगा कि उस कलेवर में भारतीय आत्मा सुरक्षित रहे।"

इसका मतलब यही होना चाहिए था कि भारतीय सत्य और भारतीय यथार्थ इन कहानियों में प्रतिबिम्बित हो। किन्तु कहीं-कहीं प्रेमचद ने ग़लत माने भी लगाये हैं, और वह भविष्य की ओर न देखकर पीछे मुड़-मुड़कर देखने लगे हैं, जैसे 'प्रेम-द्वादशी' में 'शान्ति' नाम की कहानी में। इस कहानी में आधुनिका को आक्षेप का लक्ष्य बनाया गया है, और पुराने पातिव्रत धर्म के आदर्शों को उछाला गया है। भारत की ऐतिहासिक प्रगति का यह आवश्यक लक्षण है कि नये सामाजिक जीवन का यहाँ आविर्भाव हो। पुराने जराजीर्ण सामती समाज के ध्वसावशेषों के साथ ही पुराने आचार-विचार, मान्यताएँ और आदर्श काल के गाल में लुप्त होते चले जायँगे। यह अनिवार्य है। भारत के सामाजिक जीवन में भी रेल-तार, उद्योगीकरण, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा और नवीन जनवादी और समाजवादी विचारधाराओं के साथ ऐसे तत्व प्रकट हो रहे हैं, जिन्हें समझने के लिए सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि चाहिए। यह भारत की नवीन आत्मा है, जो प्राचीन का ही विकसित रूप है किंतु उससे भिन्न भी है।

प्रेमचंद ने २०० से ऊपर कहानियाँ लिखी हैं। अनेक पाठकों और आलोचकों का मत है कि प्रेमचन्द उपन्यासकार की अपेक्षा अधिक सफल गल्पकार थे। उनके अधिकतर उन्यास, 'जैसे 'सेवा-सदन', 'ग़बन', कर्मभूमि', 'निर्मला' और गोदान' अनुपम कला-कृतियाँ हैं। इनमें भारतीय समाज का प्रवाहमान जीवन वर्षा की उमड़ती नदी के समान हिलोरें मारता है। इस जीवन की समग्र व्यथा और पीड़ा यहाँ सचित है। किंतु 'कायाकल्प' और 'रगभूमि' के समान उपन्यास भी प्रेमचंद ने लिखे हैं, जिनके कुछ अश तो अपूर्व हैं, लेकिन जो शायद एक कथा न होकर कई कथाओं का संग्रह-मात्र हैं।

प्रेमचद की अनेक कहानियाँ काफी साधारण कोटि की हैं। इतने परिमाण के साहित्य में यह स्वाभाविक भी था, किंतु उनकी सफल कहानियों की तुलना में मुश्किल से ही अन्य साहित्यकारों की रचनाएँ ठहर सकेंगी। 'बड़े घर की बेटी', 'पच-परमेश्वर,' 'ईश्वरी न्याय', 'ईदगाह,' 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि

रचनाएँ मानों किसी अनुपम शिल्पी ने गढी हैं, जिनको निखारना अथवा सुधारना असम्भव है। किंतु इस कला का वैभव पच्चीकारी और मीनाकारी न होकर लेखक की सामाजिक चेतना और उसकी तीव्रतम जीवन-अनुभूति है। गहरी भावनाओं की अग्नि में गलाकर ये कहानियाँ ढाली गई हैं और इन्हें कोई भी शिल्प अधिक सुन्दर नहीं बना सकता।

प्रेमचद की लम्बी साहित्यिक यात्रा मे उनकी कहानी-कला में अनेक परिर्वतन भी हुए। पहले काल की कहानियों मे घटनाओ और भावनाओं के अनेक उतार-चढ़ाव हैं, मानवी चरित्र की अनेक करवटें हैं। प्रेमचद यथार्थ से आरम्भ करते हैं और चरित्र की दुर्बलताओं और सीमाओ की व्याख्या करते हैं, किंतु कहानी में पूर्ण उभार आने पर चरित्र मे परिवर्तन होता है, आसुरी वृत्तियाँ हारती हैं और देवत्व की विजय होती है। प्रेमचद कहानी के अन्त में मोटे-मोटे अक्षरों में लिखते हैं—'यही ईश्वरी न्याय है', 'पच-परमेश्वर की जय' आदि। अधिकतर इस मानसिक द्वन्द्व का वर्णन बहुत सुदरता से हुआ है और पाठक को मुग्ध करता है, उसे वशीभूत कर लेता है, किंतु प्रेमचद की कहानियों का यह कथानक कभी-कभी यान्त्रिक भी हो जाता है। 'मानसरोवर' के तीसरे भाग में 'विश्वास' नाम की कहानी में मिस जोशी का हृदय-परिवर्तन ऐसी ही यात्रिकता का फल है।

अपने साहित्यिक जीवन के उत्तर-काल में प्रेमचद की कहानियाँ अधिक स्थिर हैं। उनके कथानक सीधी लकीर होते हैं, उनमें पुरानी चचलता, गति, वेग, उतार-चढाव अब नहीं मिलते। वे मानो जीवन का एक टुकड़ा-भर हैं। 'कफ़न' 'काश्मीरी सेब' आदि ऐसी रचनाएँ हैं। इन कहानियों में कठोर यथार्थवाद का रंग गहरा हो रहा है और आदर्शवाद का रग हल्का पड़ रहा है। घीसू और माधव बहू के कफ़न तक का पैसा गोश्त और शराब मे उड़ा देते हैं और उनकी मनुष्यता तिल-भर अपने बिल में से बाहर नहीं निकलती। इसी तरह किसी ने लेखक को सड़े सेब दे दिए और वह विश्वास के बल पर उन्हें ले आया। उत्तर-काल की रचनाओं में घटना-चक्र का नर्तन लगभग बद हो चुका है।

इसका कारण यही है कि प्रेमचन्द हृदय-परिवर्तन के मार्ग में विश्वास खो रहे थे और एक अधिक वैज्ञानिक और यथार्थवादी जीवन-दर्शन अपने लिए विकसित कर रहे थे। वह प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन के सम्पर्क में आ चुके थे और अधिक निर्ममता से जीवन के क्रूर कटु यथार्थ पर आघात कर रहे थे।

: ४ :

प्रेमचन्द की कहानी-कला का एक विशेष गुण उनके उदार-प्राण पात्र हैं। 'प्रेम-पीयूष' की भूमिका में वह कहते हैं—"बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं-न-कहीं देवता अवश्य छिपा होता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका का काम है।"

इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रेमचन्द ने 'बड़े घर की बेटी', 'पञ्च परमेश्वर' आदि के चरित्र गढे हैं। इन कहानियों को पढ कर मनुष्य की उदार भावनाएँ मुखर होती हैं, वह अधिक अच्छा मानव बनता है।

'मानसरोवर', भाग चार में 'प्रेरणा' नाम की कहानी में प्रेमचन्द मानवीय सम्बन्धों के चरित्र की गठन पर होने वाले प्रभाव का वर्णन करते हैं। इस कहानी में वात्सल्य स्नेह ने प्रमुख पात्र का पूरा चरित्र ही बदल दिया—"मैं जहाँ नौ बजे सोकर उठता था, अब तड़के उठ बैठता और उसके लिए दूध गरम करता। फिर उसे उठाकर हाथ-मुँह धुलाता और नाश्ता कराता। उसके स्वास्थ्य के विचार से नित्य वायु-सेवन को ले जाता। मैं, जो कभी किताब लेकर न बैठता था, उसे घण्टों पढ़ाया करता। मुझे अपने दायित्व का इतना ज्ञान कैसे हो गया, इसका मुझे आश्चर्य है।··· मैं उसके सामने इस तरह रहना चाहता था कि वह मुझे अपना आदर्श समझे और इसके लिए यह मानी हुई बात थी कि मैं अपना चरित्र सुधारूँ।"

प्रेमचन्द के पात्रों में देवत्व के बावजूद भी मनोवैज्ञानिक सत्य है। यथार्थ की भूमि पर वह आदर्श का भवन खड़ा करते हैं। उनकी कहानियों

पढते समय यह भावना कभी प्रबल नहीं होती कि जो-कुछ हम पढ रहे हैं, वह मिथ्या है। बड़े वैज्ञानिक ढग से वह मनुष्य के विचारों और भावनाओं की विवेचना करते हैं। 'बैंक का दिवाला' शीर्षक कहानी में कुँवर साहब के मनोभावो का विस्तृत विश्लेषण प्रेमचन्द ने किया है। उन्हें क़ानूनी तौर पर हक़ है कि जो क़र्ज़ा महारानी ने बैंक से लिया था, उसे वह देने से इन्कार कर दें। किन्तु इस तरह हज़ारो-लाखों लोग तबाह हो जायँगे। अन्त में कुँवर साहब इस ऋण को अपना लेते हैं। इसी प्रकार 'ईदगाह' में प्रेमचन्द ने मानव-स्वभाव का मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है।

प्रेमचन्द के पात्र जीवन के सभी क्षेत्रों से लिये गये हैं। इन कहानियों से हमें जीवन का व्यापक परिचय मिलता है। यहाँ हमें अमीर-गरीब, ऊँच-नीच, ब्राह्मण-शूद्र, ज़मींदार, किसान, महाजन, पण्डित, कारिन्दे, पुलिसमैन, पूँजीपति, मजदूर, बाबू, नौकर सभी मिलते हैं। बड़ा विशाल यह चित्रपट है, किन्तु यहाँ बाहुल्य निम्न श्रेणी के पात्रों का ही है, क्योंकि यह भारतीय जन-समाज का प्रतिनिधि चित्रपट है, और इस कारण यहाँ हमें गरीब, किसान, ग्रामीण, शोषित, अभिशप्त और त्रस्त वर्गों के पात्र ही बड़ी सख्या में मिलते हैं।

प्रेमचन्द के पात्रो मे मुसलमान पात्रों का भी बहुत विशद चित्रण हुआ है। आजकल जब साम्प्रदायिकता का इतना बोलबाला है, प्रेमचन्द के समान बड़े हृदय का व्यक्ति कल्पनातीत मालूम होता है। 'क्षमा' में प्रेमचन्द ने इस्लाम धर्म के कट्टर अनुयायी शेख़ हसन का चित्र खींचा है, जो अपने धर्म के वैरी और पुत्रहन्ता दाऊद को क्षमा करके शरण देते हैं। 'मुक्तिधन' में वह ग़रीब किसान रहमान का चित्रण करते हैं, जिसे मजबूर होकर अपनी गऊ बेचनी पड़ती है, लेकिन जो गऊ को अधिक रुपया पाने पर भी क़साइयों के हाथ नहीं बेचता। रहमान बड़ा सच्चा और ईमानदार व्यक्ति है और उसका चरित्र पाठक के हृदय को काफ़ी प्रभावित करता है।

प्रेमचन्द की सरल, जन-सुलभ भाषा-शैली भी इसी साम्प्रदायिक एकता की प्रतीक है। प्रेमचन्द अपने महान जनवादी प्रयास से हिन्दी और उर्दू

को उसी तरह नजदीक लाये; जैसे अपनी कला के माध्यम से हिन्दू और मुसलमानों को। प्रेमचन्द की भाषा जनवादी परम्परा में ढली है और जन-जीवन के बहुत निकट है। उन्होंने फ़ारसी, अरबी और संस्कृत के भारी-भरकम शब्दों को अपने लेखन में स्थान न दिया, यद्यपि उनका हिन्दी और उर्दू दोनों पर समान रूप से अधिकार था। प्रेमचन्द का उदाहरण हमें बताता है कि हिन्दी और उर्दू के बीच की खाई पाटने का एक ही तरीक़ा है; वह यह है कि हिन्दी और उर्दू के लेखक एक-दूसरे के साहित्य का सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन करें।

प्रेमचन्द के पात्र अत्यन्त यथार्थ भाषा में बोलते हैं। इस दिशा में हिन्दी के बहुत पूजे जाने वाले तथाकथित नाटककार प्रेमचंद से बहुत-कुछ सीख सकते हैं। नदी के जल के समान स्वच्छ और तरल प्रवाह इस भाषा का है। निरन्तर इसका शृंगार जीवन से प्रसूत उपमाओं से हुआ है।

'तगादा' शीर्षक कहानी में इक्केवाला सेठ जी को अपने कुल का पुराना वैभव बताता है :—

"घर कहाँ है हुजूर, जहाँ पड़ रहूँ, वहीं घर है। जब घर था तब था। अब तो बेघर, बेज़र, बेदर हूँ। और सबसे बड़ी बात यह कि बेपर हूँ। तक़दीर ने पर काट लिए। लॅडूरा बनाकर छोड़ दिया। मेरे दादा नवाबी में चकलेदार थे, हुज़ूर, सात जिले के मालिक, जिसे चाहे तोप-दम कर दें, फाँसी पर लटका दें। सूरज निकलने के पहले लाखों की थैलियाँ नज़र चढ़ जाती थीं हुज़ूर!··

"···उस दौलत का कोई हिसाब था! न जाने कितने तहख़ाने भरे हुए थे! बोरों में तो सोने-चाँदी के डले रखे हुए थे। जवाहरात टोकरियों में भरे पड़े थे। एक-एक पत्थर पचास-पचास लाख का। चमक-दमक ऐसी थी कि चिराग़ मात।···"

इस जीवन के समान प्रवाहमान गद्य में निरन्तर उपमाएँ बुलबुलों के समान उठती और मिटती रहती हैं। 'दो क़ब्रें' शीर्षक कहानी का आरम्भ इस प्रकार होता है—

"अब न वह यौवन, न वह नशा, न वह उन्माद। वह महफ़िल उठ गई, वह दीपक बुझ गया, जिससे महफ़िल की रौनक थी। वह प्रेम-मूर्ति क़ब्र की गोद में सो रही है।"

प्रेमचन्द ने इसी समृद्ध भाषा में गाँवों के यौवन का वर्णन बार-बार किया है। फागुन आया है, डफ और ढोल बज रहे हैं, महुआ महक रहा है, खेत सोने से लदे हैं, कोयल कुहुक रही है, किसान फाग गा रहे हैं, किन्तु निरन्तर इस सुख के संसार को, इस स्वर्ग को कलह, वैमनस्य, आतंक और अत्याचार का शिकार बनना पड़ा है। इस व्यवस्था के ख़िलाफ़ निरन्तर विद्रोह होते हैं, किन्तु दबा दिये जाते हैं। क्या इसका प्रतिकार है? इसका स्पष्ट उत्तर उनके साहित्य में नहीं मिलता, किन्तु इन सवालों को इतनी सफ़ाई और तीव्रता से साहित्य में उठाना ही उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में एक क्रान्तिकारी क़दम था।

५

प्रेमचन्द आधुनिक हिन्दी-साहित्य की नई जनवादी परम्परा के जनक थे। उन्होंने साहित्य में भारतीय गाँव की और उसके प्रमुख नायक किसान की प्रतिष्ठा की। समाज के निम्नतर वर्गों की व्यथा, पीड़ा और उनका विद्रोह उन्होंने अपने साहित्य में चित्रित किया। प्रेमचन्द ने सचेत रूप से अपने साहित्य का प्रयोग भारतीय समाज के सम्बन्धों को बदलने की आकांक्षा से किया। सन् १९३६ में जब प्रगतिशील लेखक-संघ बना, प्रेमचन्द उसके पहले सभापति हुए। उन्होंने अपने भाषण में साहित्यकार के सामाजिक दायित्व पर विशेष ज़ोर दिया। इसके फलस्वरूप हृदय-परिवर्तन के सरल और निश्छल माध्यम से सामाजिक क्रान्ति के जो स्वप्न प्रेमचन्द देख रहे थे, वे अब जल में बालू की दीवार के समान विलीन हो गये। उनकी अन्तिम पुस्तकों 'गोदान' और 'कफ़न' में हम जीवन के अधिक कटु यथार्थ का परिचय पाते हैं।

प्रेमचन्द-साहित्य की सीमाएँ हैं, उन पर एक दृष्टि डालना प्रेमचन्द के प्रति कोई अश्रद्धा नहीं। वे सीमाएँ प्रेमचन्द के युग में स्वाभाविक थीं, किंतु

आज भी जो साहित्यकार उन्हीं सीमाओं में बँधे हैं, उन्हें यह अनुभव कराना आवश्यक है।

प्रेमचन्द अपनी साहित्य-रचना के प्राथमिक युग में तीव्र साम्राज्य-विरोधी और सामन्त-विरोधी भावनाएँ रखते हुए भी गांधीवादी विचार-दर्शन से मुख्यतः प्रभावित हुए थे। वह इतिहास की गति के साथ न चलकर पीछे मुड-मुड़कर देखते हैं। वह गाँवों के सरल और निश्छल जीवन का वर्णन बार-बार करते हैं। 'मानसरोवर' भाग चार की 'प्रेरणा' शीर्षक कहानी में नायक शहर और गाँव की तुलना करता है :

'मुझे ऐसा मालूम होता है कि उस वक्त मैं हिंस्र जन्तुओं से घिरा हुआ था और मेरी सारी शक्तियाँ अपनी आत्मरक्षा में लगी रहती थीं। यहाँ मैं अपने चारों ओर सन्तोष और सरलता देखता हूँ। मेरे पास जो लोग आते हैं, कोई स्वार्थ लेकर नहीं आते और न मेरी सेवाओं में प्रशंसा या गौरव की लालसा है।"

किंतु स्वयं प्रेमचन्द गाँव को समग्र सुख और शान्ति का केन्द्र न मानते थे, यह उनकी अगणित कथाओं से ही विदित है।

प्रेमचन्द उद्योगीकरण के खिलाफ थे और शहरों के खिलाफ थे। शहरों की नई पूँजीवादी सभ्यता को वह क्रूर हिंसक रूप का प्रतीक मानते थे। असंख्य किसान भूमि से टूट-टूटकर मजूरी के लिए शहरों की ओर आ रहे थे। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने इस दुःखान्त घटना का मर्मवेधी वर्णन किया है।

सामन्ती शोषण से प्रेमचन्द हृदय-परिवर्तन और आश्रमों की स्थापना में पहले मुक्ति देखते थे। ज़मींदार के पुत्र प्रेमशंकर ने प्रजा के दुःखों से द्रवित होकर 'प्रेमाश्रम' की स्थापना की, जहाँ राजा और प्रजा सब मिल-जुल कर शान्तिपूर्ण जीवन बिताते हैं। इसी प्रकार शहर के दुखियों के लिए एक आश्रम 'सेवा-सदन' खुल जाता है। इस सामाजिक व्यवस्था में यह हल बूँद बराबर है और मूल समस्या को छूता तक नहीं। अंतिम दिनों में प्रेम-

चन्द यह समझ गए थे और 'गोदान' और 'कफ़न' में ऐसे आदर्शवादी हल हम नहीं पाते।

प्रेमचन्द के साहित्य मे पारलौकिकता के भी कुछ चिन्तनीय चरण हैं। यह हम 'भूत' 'मूठ' 'नाग-पूजा' आदि कहानियों में देखते हैं। 'कायाकल्प' में यह रोग विराट आकार धारण करता है, किंतु प्रेमचन्द तुरन्त सँभल भी गए।

'शाति' और 'दो सखियाँ' आदि कहानियों में यह भी झलक है कि प्रेमचन्द लड़कियों की आधुनिक अंग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा से सन्तुष्ट नहीं थे। यद्यपि वह गाँवों मे सामन्ती शोषण के विरुद्ध बग़ावत का झण्डा उठा रहे थे, फिर भी उनके विचारों में सामन्ती अवशेष कुछ-न-कुछ बाक़ी थे। 'शाति' नाम की कहानी में पहले पति कहता है—

"स्त्रियाँ केवल भोजन बनाने, बच्चे पालने, पति की सेवा करने और एकादशी का व्रत रखने के लिए नहीं हैं। उनके जीवन का लक्ष्य इससे बहुत ऊँचा है। वे मनुष्यों के समस्त सामाजिक और मानसिक विषयों में समान रूप से भाग लेने की अधिकारिणी हैं। उन्हें मनुष्यों की भाँति स्वतन्त्र रहने का भी अधिकार प्राप्त है।"

किंतु कहानी के अन्त तक पतिदेव के विचार काफ़ी बदल जाते हैं। उन्होंने आधुनिक 'सभ्य' समाज का जो घृणित और कुत्सित रूप नगर में देखा, उससे उन्हें बहुत वितृष्णा हुई। वह कहते हैं—

" मैं इस ज़िन्दगी से तग आ गया हूँ। मैं अब समझ रहा हूँ कि मैं जिस स्वच्छ, लहराते हुए निर्मल जल की ओर दौड़ा जा रहा था, वह मरु-भूमि है। मैं इस प्रकार के जीवन के बाहरी रूप पर लट्टू हो रहा था, परन्तु अब मुझे उसकी आन्तरिक अवस्थाओं का बोध हो रहा है। इन चार वर्षों में मैंने इस उपवन में ख़ूब भ्रमण किया और उसे आदि से अन्त तक कटक मय पाया। यहाँ न तो हृदय की शाति है, न आत्मिक आनन्द। यह एक उन्मत्त, अशातिमय, स्वार्थपूर्ण, विलासयुक्त जीवन है। यहाँ न नीति है न धर्म, न सहानुभूति न सहृदयता। "

ऊपरी वर्ग के निरुद्देश्य, विलासी जीवन की यह ही अलोचना हो सकती है, किंतु अपने साहित्य में जिस भारतीय आत्मा को प्रेमचन्द प्रतिष्ठित करना चाहते थे, वह शोषण-विहीन सामती भारत की आत्मा है, और पाण्डेपुर के शान्त सरल जीवन की प्रतीक है।

किंतु जिस भारतीय आत्मा को आज का प्रगतिशील लेखक अपने साहित्य में प्रतिष्ठित करने की आकाक्षा रखता है, वह शोषणविहीन किंतु उद्योग-धन्धों और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न भारत की विकसित आत्मा है। वह जिन गाँवों में निवास करेगी, वहाँ भूमि तो किसान की सम्पत्ति होगी ही, किंतु वहाँ विज्ञान की आधुनिक सुविधाएँ भी प्राप्त होगी। वहाँ बिजली, नल, पक्के घर, सड़क, रेल और मोटर की सुविधाओं से सम्पन्न भारतीय आत्मा निवास करेगी और वह उस भविष्य के स्वप्न देखती होगी, जब श्रमविहीन और अनन्त अवकाशयुक्त भारत स्वप्नमात्र न रहकर यथार्थ बनेगा।

प्रेमचन्द के साहित्य की आवश्यक ऐतिहासिक सीमाएँ हैं। उनके उत्तराधिकारियों को वैज्ञानिक सत्य पर आधारित इस उज्ज्वल भविष्य का निर्देश अपनी रचनाओं मे करना है।

छायावाद

छायावाद हिंदी कविता के इतिहास में एक प्रमुख धारा है। आधुनिक युग की हिंदी कविता का, कला और शैली की दृष्टि से, वह उत्कृष्ट और प्रौढ़ रूप है। भारतेन्दु युग से हिंदी कविता करवट बदलती है, उसकी जीवन-प्रेरणा द्विवेदी-युग में स्वस्थ और सशक्त होती है, और उसका कलात्मक स्वरूप छायावादी कवियो की कृति मे पराकाष्ठा को पहुँचता है। छायावाद के परवर्त्ती काल में इस कला मे क्षय के लक्षण प्रकट होने शुरु होते हैं और सूर्यास्त की चमक-दमक उसके स्वरूप में आ जाती है। वह दिया-बाती जो भारतेंदु युग में हल्की-हल्की जली थी, अब मानों अंतिम आलोक बिखराकर बुझने को है। भारतेंदु से लेकर आज तक आधुनिक हिंदी कविता के इतिहास की यह विहङ्गम दृष्टि है। पहले चरण में सामंती परम्परा से हिंदी कविता अलग हुई, दूसरे में उसने अपनी रूप-रेखा निश्चित की, तीसरे में वह प्रौढ और सुष्ठ हुई, अब हिंदी काव्य की यह प्रबल धारा अपनी आख़िरी मज़िल पार कर रही है।

क्यों भारतेंदु युग में हिंदी साहित्य में क्रातिकारी परिवर्त्तन हुए, इसका उत्तर आसान है। अंग्रेज़ों के आगमन के साथ भारतीय इतिहास का नया युग आरम्भ होता है। क्रमशः नवीन शासन-व्यवस्था और नयी आर्थिक व्यवस्था के साथ भारतीय समाज में गहरे परिवर्त्तन होते हैं, रहन-सहन और आचार-विचार बदलते हैं और एक नयी सस्कृति बनती है। इस नवीन सम्पर्क के फलस्वरूप भारतीय सस्कृति का पुनर्जागरण होता है और हमारी जीर्ण सास्कृतिक परम्परा एक नया बल प्राप्त कर लेती है। भारत के इस सास्कृतिक जागरण का केन्द्र बगाल था। बगाल में ही अंग्रेजों के शासन का मुख्य अड्डा था, अतः नवीन सास्कृतिक सूर्य यहीं से उदय होता है और मध्याह्न में उसके प्रखर तेंजकी किरणें देश भर में फैल जाती हैं। इस जागरण के अनेक

महापुरुष बङ्गाल में जन्म लेते हैं : राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर, बंकिम, माईकेल मधुसूदन दत्त, अन्तमें रवि ठाकुर, शरत् बाबू और नन्दलाल बोस।

इस नये युग में भारतीय समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्त्तन होते हैं, सामंती ढाँचा छोड़कर भारतीय समाज नयी और सबल पूँजीवादी प्रणाली को अपनाने का प्रयास करता है। एक नया बुद्धिजीवी वर्ग हमारे समाज में जन्म लेता है; उसके आचार-विचार हमारे लम्बे इतिहास में कुछ अद्भुत् ही हैं। पहली बार हमारे देश में मध्यम वर्ग एक नयी संस्कृति का निर्माण करता है। इस नयी संस्कृति का इतिहास सन् १८५७ से शुरू हुआ, जब भारतीय सामंतवाद ने हार खायी और साम्राज्यवाद से संधि की।

भारतेंदु-युग के लेखक जीवन के प्रति एक अभिनव दृष्टिकोण लेकर आये। उनकी दृष्टि रीतिकाल के कवियों से सर्वथा भिन्न है। उनकी सम्पूर्ण प्रतिभा नायक-नायिका भेद, नख-शिख वर्णन अथवा एक बँधे ढँग के षट्-ऋतु वर्णन या अलङ्कार विवेचना में नहीं लग जाती। वह एक उर्वरा भूमि के उगते अंकुर हैं : बंजर भूमि के झाड़-झङ्खाड़ नहीं। नवयुग के क्रांति-कारी सामाजिक परिवर्त्तन इस लेखक-वर्ग को स्वीकार हैं, और अपने विकास के पथ में विदेशी पूँजीवाद का अवरोध वह समझता है। "भारत दुर्दशा" में हमको इस दृष्टिकोण का अच्छा परिचय मिलता है। भारतीय समाज का प्रवाह सामंती युग में किस प्रकार रुक गया था, इसका कितना 'आधुनिक' विवरण भारतेंदु देते हैं :

"रचि बहु विधि के वाक्य पुरातन माँहि घुसाये ;
सैव, साक्त, वैष्णव अनेक मत प्रकटि चलाये।
जाति अनेकन करी, नीच अरु ऊँच बनायो ;
खान-पान-सम्बंध सबन सों बरजि छुड़ायो।
जन्म-पत्र बिन मिले ब्याह नहिं होन देत अब।
बालकपन में ब्याहि प्रीति, बल नास कियो सब।
करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरजु मारयो ;

विधवा-व्याह-निषेध कियो, व्यभिचार प्रचार्यो।
रोकि विलायत-गमन, कूप-मंडूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो।
बहु देवी, देवता, भूत—प्रेतादि पुजायो,
ईश्वर सों सब विमुख किये हिंदू घबरायो।

जो विचार "भारत दुर्दशा" में भारतेंदु ने व्यक्त किये हैं, वही कलात्मक शृंगार करके पंत के "परिवर्त्तन" में हमारे सामने आते हैं। इन विचारों का सारांश इस प्रकार है : भारत, जो दुनिया में इतना बढ़ा-चढ़ा था, आज अधःपतन के गढे में पड़ा है, जो संसार का मुकुट था, आज सबसे पिछड़ा है :

"कहाँ आज वह पूर्ण-पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?
भूतियों का दिगत-छवि-जाल
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल ?
राशि राशि विकसित वसुधा का वह यौवन विस्तार ?
स्वर्ग की सुखमा जब साभार
धरा पर करती थी अभिसार !"

\+ \+ \+

"हाय ! सब मिथ्या बात !—
आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस !
वही मधु-ऋतु की गुञ्जित—डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिञ्चनता में निज तत्काल
सिहर उठती,-जीवन है भार ! "

द्विवेदी-युग में राष्ट्रवादी कविता का अधिक प्रचार हुआ। आधुनिक काव्य के इस दूसरे चरण में हमारे प्रतिनिधि बाबू मैथिलीशरण गुप्त, 'एक

भारतीय आत्मा' और 'नवीन' आदि कवि हैं। सामाजिक कुरीतियों से हमारा ध्यान हटकर राजनीतिक और आर्थिक शोषण की ओर अधिक जाता है। भारतीय पूँजीवाद अब अपने विकास की रुकावटों को दूर करने का भरसक प्रयत्न करता है। सन् १९२० के बाद हमारी राजनीतिक लड़ाई विकट रूप धारण करती है। इस हलचल की अभिव्यक्ति समकालीन साहित्य में काफी स्पष्ट है। "भारत-भारती" का एक अंश देखिए :

"वैश्यो! सुनो, व्यापार सारा मिट चुका है देश का,
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का?
अब भी न यदि कर्त्तव्य का पालन करोगे तुम यहाँ—
तो पास हैं वे दिन कि जब भूखों मरोगे तुम यहाँ।
अब तो उठो, हे बंधुओ! निज देश की जय बोल दो,
बनने लगें सब वस्तुएँ, कल-कारख़ाने खोल दो।
जावे यहाँ से और कच्चा माल अब बाहर नहीं—
हो 'मेड इन' के बाद बस अब 'इंडिया' ही सब कहीं।
है आज भी रत्न-प्रसू वसुधा यहाँ की-सी कहाँ?
पर लाभ उससे अब उठाते हैं विदेशी ही यहाँ।
उद्योग घर में भी अहो! हमसे किया जाता नहीं
हम छाल-छिलके चूसते हैं, रस पिया जाता नहीं।"

'नवीन' की कविता में राष्ट्रवाद का क्रन्दन गहरा हो गया है और नज़रुल के नाशवाद का प्राथमिक हिंदी रूप भी हमें इन्हीं की रचना में मिलता है :

"नियम और उपनियमों के ये
बंधन टूक-टूक हो जाएँ,
विश्वम्भर की पोषक वीणा
के सब तार मूक हो जाएँ,

शाति-दण्ड टूटे, उस महा-
रुद्र का सिंहासन थर्राये,
उसकी श्वासोच्छ्वास-दाहिका
जग के प्राङ्गण मे घहराये,
नाश ! नाश !! हाँ महानाश !!! की
प्रलयङ्करी आँख खुल जाये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे अङ्ग अङ्ग झुलसाएँ "

सन् १९२० के सग्राम मे भारतीय जनशक्ति ने विदेशी पूँजीवाद से टक्कर ली और राष्ट्रीय नेतृत्व की नीति के कारण शिकस्त खाई। सन् १९२० से १९३० तक हमारे राष्ट्रवाद में पराजय के स्वर आ जाते हैं। भारतीय पूँजीवाद जो इस लड़ाई में आगे था, जनता की शक्तियो से आशकित हो उठा था और जनता से अलग होकर उसकी लड़ाई निर्बल हो गई थी। अतएव एक घोर निराशा वातावरण में छा जाती है। इस निराशा की गम्भीर अभिव्यक्ति भी 'नवीन' की एक कविता में हुई है :—

आज खड्ग की धार कुण्ठिता
है, खाली तूणीर हुआ,
विजय-पताका झुकी हुई है,
लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ,
बढ़ती हुई क़तार फ़ौज की,
सहसा अस्तव्यस्त हुई,
त्रस्त हुई भावों की गरिमा,
महिमा सब सन्यस्त हुई,
मुझे न छेड़ो, इतिहासों के
पन्नो, मैं गतिधीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुण्ठिता
है, खाली तूणीर हुआ।

छायावाद हमको अंग्रेज़ी के रोमैन्टिक कवियों का स्मरण दिलाता है। रोमैन्टिक कवियों ने अंग्रेजी कविता को प्रौढ़ रूप दिया, उसको गम्भीर और गहरी धारमें प्रवाहित किया और सामाजिक क्रान्ति का अस्त्र बनाया। रोमैन्टिक युग के बाद अंग्रेजी काव्य का ह्रास शुरू हो जाता है। छायावाद में इन प्रवृत्तियो को हम परमाणु रूप मे अवश्य पायेंगे।

छायावाद ने आधुनिक हिन्दी काव्यको प्रौढ़ शैली प्रदान की और उच्च कोटि का शिल्प सिखाया। भारतेन्दु और द्विवेदी युग में हिन्दी काव्य अनुभूति, कल्पना, और भाषा सभी में काफ़ी दीन था। द्विवेदी युग के अनेक कवि मानो बाँये हाथ से कविता लिखते थे। प्रसाद, पन्त और निराला ने हिन्दी काव्य के सभी पक्ष सँवारे। पहली बार खड़ी बोली ने यह प्रमाणित किया कि वह काव्य की भाषा बनने के योग्य है। महादेवी जी की रचनाओं में अनन्य माधुरी लेकर खड़ीबोली प्रकट हुई है। साथ ही भावो की गहराई और कल्पना की सहज और ऊँची उड़ान इस काव्य मे है। जिस चरम सीमा को सामन्ती कला अपने विकास-कालमें पहुँची थी, उसी सीमा तक यह मध्य-वर्ग की कला पहुँच चुकी है। कम-से-कम उसके अवयवों की माधुरी, उसके रूप-कलाप का लालित्य सभी को स्वीकार करना होगा। निम्नलिखित पक्तियों का मधुर सङ्गीत और शब्द-विन्यास किसी भी कला को गौरव दे सकता है :—

तन्द्रिल निशीथ में ले आवे
गायक तुम अपनी अमर बीन!
प्राणों में भरने स्वर नवीन!

अथवा,

नवल मेरे जीवन की डाल
बन गई प्रेम-विहग का वास!
आज मधुवन की उन्मद वात
हिला दे गयी पात - सा गात,

मन्द्र, द्रुम - मर्मर - सा अज्ञात
उमड़ उठता उर में उच्छ्वास!
नवल मेरे जीवन की डाल
बन गई प्रेम-विहग का वास!

अथवा,

घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय!
जलधि-मानस से नव जन्म पा
सुभग तेरे ही दृग - व्योम में,
सजल श्यामल मंथर मूक-सा
तरल अश्रु-विनिर्मित गात ले,
नित घिरूँ झर झर मिटूँ प्रिय!
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय!

छायावादी कवियों ने एक नये सिरे से हिन्दी भाषा को गढा है, उसे अनेक नये रूपक और संकेत दिये हैं, नयी कोमलता और स्निग्धता उसके प्राणों में भरी है। छायावाद ने हिन्दी साहित्य को एक नयी शब्दावली, एक नयी भाव-व्यञ्जना और कला-दृष्टि दी। इस शैली के उच्चतम प्रयास 'कामायिनी', 'पल्लव', 'अनामिका' और 'नीरजा' हैं। किसी भी कला-मन्दिर की शोभा इन रचनाओं से बढ सकती है।

छायावाद किसी सुदूर काल्पनिक जग को खोजने का प्रयास है। अरूप के प्रति उसे विशेष मोह है। जीवन के स्थूल सत्य से उसे अरुचि है। महादेवीजी के शब्दों में यह कह सकते हैं कि जीवन के "सूक्ष्म" सत्य को वह खोजता है। छायावाद उपयुक्त ही नामकरण हुआ, क्योंकि छाया-जग की चर्चा ही इन कवियों का ध्येय है। दूर कुछ खोजने का भाव हमें इस कविता में निरन्तर मिलता है:

ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक!
धीरे - धीरे।

जिस निर्जन में सागर - लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो, तज कोलाहल
की अवनी रे।

—प्रसाद

हमें जाना है जग के पार।—
जहाँ नयनों से नयन मिले,
ज्योति के रूप सहस्र खिले,
सदा हो बहती नव-रस धार
वहीं जाना, इस जग के पार।

—निराला

स्तब्ध-ज्योत्सना में जब ससार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न-अजान,
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन!

—पन्त

शायद सकेत रूप से छायावाद के प्रति निम्नलिखित पक्तियाँ अनुचित नहीं हैं :—

कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम?
अये अभिनव, अभिराम!
मृदुलता ही है बस आकार,
मधुरिमा - छवि, शृगार,
न अगों में है रंग, उभार;
न मृदु - उर में उद्गार;

निरे साँसों के पिञ्जर - द्वार !
कौन हो तुम अकलङ्क, अकाम ?

—पल्लव

छायावाद पर बङ्गला कविता, विशेषकर रवि बाबू का अनन्य प्रभाव है। 'गीताञ्जलि', 'सोने की तरी' आदि गुरुदेव की पुस्तकों में भी किसी अलौकिक रूप को खोजने का यह प्रयास है। किसी परी लोक में, अन्धकार के देश में, बुद्बुद्-से फेलिन स्वप्न-प्रान्त में कवि के प्रियतम का वास है ।—

क्या वही तुम्हारा देश
ऊर्मि-मुखर इस सागर के उस पार—
कनक-किरण से छाया अस्ताचल का पश्चिम द्वार ?
—गुरुदेव की 'निरुद्देश यात्रा' का अनुवाद, 'अनामिका' से

क्या इस छायावाद के पीछे कोई निगूढ़ रहस्य छिपा है ? इस काव्य का आध्यात्मिक लक्ष्य और जीवन-दर्शन क्या है ? सकेतों के बल से वह जीवन के चरम रहस्य को पकड़ना और व्यक्त करना चाहता है। अँधेरी रात में पथिक आया और लौट गया, कवि उसे पहचान भी न सका। यह किसी अज्ञात देश का वासी फिर न जाने कैसे मिलेगा !

शशिमुख पर घूँघट डाले, अञ्चल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये।

अथवा,

पथ देख बिता दी रैन
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
तम ने धोया नभपथ
सुवासित हिमजल से,
सूने आँगन में दीप
जला दिये झिलमिल से,

आ प्रात बुझा गया कौन
अपरिचित, जानी नही !
मैं प्रिय पहचानी नही !

—महादेवी

यह 'आदर्श'-जगत मनुष्य को सदा मोहक रहा है। प्लेटो के प्रसिद्ध रूपक के अनुसार किसी अँधेरी गुफा के हम बन्दी प्राणी आदर्श की छाया गुफा की दीवारों पर पडती देखते हैं और अनुमान लगाते हैं कि यह आदर्श क्या है।

पन्त की कविता में यह छायावाद जग के रहस्य के प्रति केवल एक विस्मय का भाव है, जो निरन्तर उमडता है :

अरे, ये पल्लव - बाल !
सजा सुमनो के सौरभ - हार
गूँथते वे उपहार;
अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल,
नहीं छूटी तरु - डाल;
विश्व पर विस्मित चितवन डाल,
हिलाते अधर-प्रवाल !

पन्त अपने छायावादी काल मे प्रकृति के अनन्य उपासक रहे हैं और आपके काव्य का यह विस्मय भाव प्रकृति के रूप और रहस्य द्वारा ही अधिक प्रेरित हुआ है।

तारकों से पलकों पर कूद
नींद हर लेते नव नव भाव,
कभी बन हिम-जल की लघु बूँद
बढाते मुझ से चिर - अपनाव;
गुदगुदाते ये तन, मन, प्राण,
नहीं रुकती तब यह मुसकान !

कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर मुझको उस पार..

किन्तु छायावाद के समस्त दर्शन को इस प्रकार नहीं समझा जा सकता। प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी उस भारतीय चिन्ता धारा के उत्तराधिकारी हैं, जिसका प्रधान गुण आदर्शवाद रहा है, यानी यथार्थ का छाया के प्रति मोह, अदृष्ट का आतंक और ससीम का निस्सीम से प्रेम। छायावाद उन क्षणों को खोजता है :

जब असीम से हो जायगा
मेरी लघु सीमा का मेल—

"छायावादी की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एक-रूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई, अत. अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृति के लघु तृण और महान वृक्ष, कोमल कलियाँ और कठोर शिलाएँ, अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड अन्धकार और उज्जवल विद्युत-रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता, चञ्चलता-निश्चलता ज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर हैं।"

जिस भारतीय दर्शन को किसी सुदूर अतीत की परिस्थितियों ने जन्म दिया था, वह अब भी हमारे मस्तिष्क पर अधिकार जमाये है, किन्तु नयी परिस्थितियों ने नये विचारों को जन्म दिया है और छायावाद भी अपनी विरासत आदर्शवाद को सहेज कर पूँजीवाद के दर्शन व्यक्तिवाद की ओर मुड़ता है।

किस प्रकार छायावाद ने भारतीय दर्शन के मतवादों को अपनाया, इसका उदाहरण कामायिनी में मिलता है :

"मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष—हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध 'श्रद्धा' और 'इडा' है।...इडा के लिए मनु को अत्यधिक आकर्षण हुआ और श्रद्धा से वे खिंचे।....अनुमान किया जा सकता है कि बुद्धि का विकास, राज्य-स्थापना इत्यादि इडा के स्वभाव से ही मनु ने किया।"

—कामायिनी

इस रूपक और 'कामायिनी' के ललित स्थलों के पीछे भारतीय दर्शन का चिर-सहचर कर्मकाण्ड भी है :

मनु यह श्यामल कर्म - लोक है
धुँधला कुछ कुछ अंधकार - सा,
सघन हो रहा अविज्ञात यह
देश मलिन है धूमधार-सा।
कर्म - चक्र - सा घूम रहा है
यह गोलक, बन नियति प्रेरणा;
सब के पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नयी एषणा।
श्रम-मय कोलाहल, पीडन-मय
विकल प्रवर्त्तन महायन्त्र का,
क्षण भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया तन्त्र का।

हम देखेंगे कि छायावाद में इसी प्रकार के विचारों की अस्पष्ट सी अभिव्यक्ति है और इसी कारण इस काव्य का नामकरण 'छायावाद' हुआ।

इन तत्त्वों से अधिक गहरा कुछ हमें छायावाद के दर्शन में नहीं मिलता, उसके शिल्प के रङ्ग चाहे जितने गाढे हों। छायावाद यथार्थ की कटुता से भी बचता है। इसका कारण हमारी राजनैतिक और आर्थिक परवशता है। हम देख चुके हैं कि बीसवीं शताब्दी के भारतीय जागरण के चिह्न सन् १६२० के बाद निराशा में बदलने लगे हैं। हमारा राजनैतिक और आर्थिक संकट तीव्र होता जा रहा है। जनता क्षुब्ध थी और भारतीय नेतृत्व जन-शक्ति के प्रयोग

से घबराता था। इन परिस्थितियों में स्वाभाविक ही था कि हमारे कलाकार विषम यथार्थ को भूलकर एक सपनों का संसार बनाएँ और कल्पना के शीश-महल में जा बसें।

छायावाद के प्राथमिक कवि सामाजिक चेतना अवश्य लिये थे, किंतु काव्य में उसकी अभिव्यक्ति बहुत कम हुई। प्रसाद के उपन्यासों, निरालाजी के गीतों और पंत के परिवर्त्तन में इस सामाजिक दायित्व का पूरा बोध है। किंतु छायावाद संकेतों की भाषा है और उसकी प्रमुख प्रवृत्ति पलायन की भावना है। किस प्रकार आधुनिक हिन्दी कविता यथार्थवाद की ओर मुड़ी, इसका विवरण 'अनामिका' से 'कुकुरमुत्ता', अथवा 'गुञ्जन' से 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' तक हिन्दी कविता के विकास में मिलेगा।

पूँजीवाद की दार्शनिक भाषा व्यक्तिवाद है। काव्य में व्यक्तिवाद गीत की परम्परा को विकसित करता है। गीति-काव्य अत्यधिक अंतर्मुखी और व्यक्तिगत् कला है। पूँजीवाद के अंतर्गत महाकाव्य नहीं लिखे जाते, क्योंकि उनकी प्रेरणा सामूहिक जीवन से है।

छायावाद ने हिन्दी के गीति-काव्य का अभूतपूर्व विकास किया है। वास्तव में कामायिनी भी स्वतंत्र गीतों की एक अद्भुत् लड़ी है। कथा के धागे में मोती-से इन गीतों को पिरोने का कवि ने प्रयास किया है।

किस प्रकार निरालाजी का व्यक्तित्व उनके काव्य पर छाया है, इसके उदाहरण देना आसान है। आप "सदियों के जकड़े हृदय-कपाट" को कठिन प्रहार कर तोड़ देना चाहते हैं। आपकी सकरुण दृष्टि "पथ पर" अपना "जीवन" भर देना चाहती है, जिससे क्षुब्ध तृण, अंकुर उल्लसित हो उठें। छायावाद के कल्पना-प्रासाद में भी आपने ही "भिखारी" और "पथपर" "पत्थर तोड़ने वाली" शोषित जातियों को ला बसाया। किंतु कवि का क्रंदन ही उमड़कर वसुधा में व्याप्त हो रहा है, उसके अश्रु जग के पारावार बने हैं :—

> मेरे ही क्रंदन से उमड़ रहा यह तेरा सागर सदा अधीर,
> मेरे ही बंधन से निश्चल—

नदन-कुसुम-सुरभि-मधु-मदिर समीर;
मेरे गीतो का छाया अवसाद,
देखा जहाँ, वहीं है करुणा,
घोर विषाद

—अनामिका

छायावाद के पूर्ववर्त्ती कवि अहम का प्राधान्य रखते हुए भी बाहर की दुनिया के प्रति सचेत थे, किंतु नयी पीढ़ी के कवि अपने अतर के ही वदी हैं, निराशाओ के शिकार हैं और सामाजिक यथार्थ पर अस्त्र-प्रहार करने में असमर्थ हैं। उनके प्राण अदर-ही-अदर घुट रहे हैं।

महादेवीजी की कविता छायावाद की अतिम मजिल है। छायावाद का मधुरतम स्वरूप आपके काव्य में हम देखेंगे। किंतु इस मधुरिमा के पीछे कितनी अव्यक्त पीड़ा है, कितना अश्रु-शृङ्गार है! आपकी कला का अत्यत निखरा रूप आपकी सबसे बाद की काव्य-पुस्तक 'दीप-शिखा' मे मिलता है :

अब न लौटाने कहो अभिशाप की वह पीर!
बन चुकी स्पदन हृदय मे और नयन मे नीर!

अथवा,

अग्नि-पथ के पार चदन-चाँदनी का देश है क्या?
एक इगित के लिए शत बार प्राण मचल चुका है!
मोम-सा तन घुल चुका अब दीप-सा मन जल चुका है?

साम्राज्यवाद ने आज सामाजिक विकास के सभी रास्ते रोक रक्खे हैं। कवि के द्रवित नयन आज आशा की कोई लौ नहीं देख पाते। चतुर्दिक् गहन तम का पारावार हिलोर मार रहा है :

भीत तारक मूँदते दृग
भ्रात मारुत पथ न पाता,
छोड उल्का अक नभ मे
ध्वस आता हरहराता
उँगलियो की ओट में सुकुमार सब सपने बचा लूँ।

छायावाद का एकाकीपन, उसकी निराशा और पराजय-भावना सामाजिक पृष्ठ-भूमि में रखकर हम अनायास ही समझ सकते हैं। पूर्ववर्ती कवियों की रचना मे इतना गहन अधकार नहीं मिलता। १-३० के आदोलन के बाद मानो राष्ट्रीय नेतृत्व ने अपनी विजय की सब आशा छोड़ दी। परवर्ती कवि सभी घोर निराशा के वातावरण मे पले हैं। एक हद तक इस पीढी की रचना पराजयवाद को अपना लेती है।

नरेन्द्र छायावाद के प्रभाव में पले अतिम कवि हैं। किंतु आप उसके छाया-जाल से निकल चुके हैं। आप अधिक यथार्थवादी सकेतो का प्रयोग करते हैं। और यथार्थ की चेतनता भी आपके काव्य मे तीव्र है। किंतु आज भी जब आपका हृदय और मस्तिष्क एक आशावादी सामाजिक दर्शन का वरण कर चुका है, आपका काव्य निराशा के स्वरो में बोल पडता है,

> लक्ष्य-भ्रष्ट-तीरों से खाली जो, ऐसा तूणीर,
> मूठ रही बस कर में जिसकी, मैं ऐसी शमशीर!
> कहने को भी नहीं रहा कुछ—मेरी ऐसी पीर,
> सूख चला जल जिसका, मैं ऐसी नदिया गभीर
>
> 'मिट्टी और फूल'

छायावाद हिंदी कविता को एक मजिल तक पहुँचाकर अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चुका। बीमार समाज को जिस उपचार की आवश्यकता है, वह छायावाद के वश का नहीं। अत. एक-एक करके छायावाद के माझी अपनी पुरानी तरी छोड़ रहे हैं, क्योंकि उनकी जागरूक चेतना सामने गहरे नद और नदी देख रही है, जिन्हें पुराने पोत पर पार करना सभव नहीं है। पतजी 'युगवाणी' लिखकर, निराला 'कुकुरमुत्ता' लिखकर और महादेवीजी बगाल के अकाल और गुरुदेव की मृत्यु जैसे विषयों पर लेखनी उठाकर अपनी प्रेरणा का यथार्थ से सम्बन्ध जोड़ रहे हैं। कवि के मर्म पर आज की परिस्थिति आघात कर रही है। हवाई मीनारों में बद रहना अब उसके लिए असम्भव हो उठा है।

आज हम रास्ते के मोड़ पर खड़े हैं। संसार की शक्तियाँ लोहमर्षण युद्ध में लगी हैं। हमारे देखते-देखते समाज का भविष्य बन रहा है। इतिहास के निर्माण में दुनिया-भर के लेखक हाथ बँटा रहे हैं। भारतीय लेखक भी अपने अस्त्रों से परिस्थिति के ख़िलाफ़ लड़ने को तैयार हैं। यह उचित ही है कि छायावादी टेकनीक द्वारा अपनी प्रेरणा और कला का समुचित विकास करके आज वह सामाजिक यथार्थवाद को अपनावें। इतिहास ने आज दुनिया को जिन दो दलों में बाँट दिया है, उनके बीच तभी वे अपना निश्चित स्थान ले सकेंगे। हमें अँग्रेजी के प्रसिद्ध कवि ऑदेन के उन शब्दों का ध्यान आता है, जिनसे उन्होंने 'स्पेन' शीर्षक अपनी लम्बी कविता को समाप्त किया है :

Tomorrow for the young the poets exploding like bombs,

The walks by the lake, the weeks of perfect communion,
Tomorrow the bicycle races
Through the suburbs on summer evenings But today
the struggle.

अर्थात,

कल युवाओं के लिए कवि बमों की तरह फूटेंगे,
झील के किनारे सैर होगी, पूर्ण संस्पर्श के सप्ताह होंगे;
कल साइकिलों की दौड़
ग्रीष्म की संध्याओं में नगर के बाहर होगी।
किंतु आज संघर्ष…।

प्रगतिवाद

गति जीवन का सनातन नियम है, भौतिक और विचारों के जगत् दोनों में ही, क्योंकि विचारों का जग यथार्थ का ही प्रतिबिम्ब है। मनुष्य के विचार उसके वातावरण के अनुकूल बनते हैं। भौतिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ उसके विचार भी बदला करते हैं। सत्य, शिव और सुन्दर के नित्य नये रूप उसके सामने आते हैं। कला और दर्शन समय की गति के अनुसार रूप बदलते हैं और सदा एक स्वर में नहीं व्यक्त होते।

दो विरोधी तत्त्वों से मिलकर जगत् बना है। इनमें सतत् सघर्ष चला करता है। इन दो शक्तियों के तनाव से सत्य निकलता है। एक शक्ति हमें पीछे खींचती है, दूसरी आगे ले जाती है। इस पारस्परिक सघर्ष से जो स्थिति उत्पन्न होती है, उसमें कुछ पुराना होता है और कुछ नया। यह समन्वय पिछली स्थिति से एक पग आगे अवश्य होता है। हम अपने अतीत को नहीं छोड़ सकते, किन्तु उसमें उलझकर रुक भी नहीं सकते।

जीवन की शक्तियाँ निरन्तर विकास के पथ पर हैं। मनुष्य ने लगातार परिस्थिति से टक्कर ली है और उस पर विजय पाई है। प्रकृति की शक्तियों पर उसने अधिकाधिक प्रभुत्व स्थापित किया है। जिस प्रकृति का पहले वह दास था, उसका आज स्वामी है। दिन प्रति-दिन अपने बधनों से वह छुटकारा पा रहा है।

प्रागैतिहासिक युग में वह जगल के कन्द-मूल-फल बटोरकर खाता था, जगली जानवरों का शिकार करता था, या शिकार बनता था। उसका जीवन भाग्य का एक पाँसा था। फिर उसने जानवर पाले, धरती जोती, बीज बोये, आग जलाना सीखा। उसकी मुक्ति में यह एक बड़ा क़दम था। उसने नगर बसाये, सामूहिक जीवन-यापन सीखा। उत्पादन के साधनो मे उन्नति के

साथ-साथ श्रम-विभाजन की आवश्यकता भी आ पड़ी और समाज दो भागों में बँट गया। दास भूमि गोड़ते थे और एक अवकाश-भोगी वर्ग कला, विज्ञान आदि संस्कृति के अंग सँवारता था। इस श्रम-विभाजन ने समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन और विकास किया।

सामूहिक जीवन ने सामूहिक कला को जन्म दिया था। देवताओं की पूजा के हेतु अथवा श्रम-भार हलका करने के लिए पुरानी जातियों में जन-गीत, जन-नृत्य, जन-नाटक आदि बने। इस संस्कृति का उपभोग पूरा समाज करता था। श्रम-विभाजन के बाद श्रमजीवी वर्ग संस्कृति और कला के विकास का साथ न दे सका और अधिकाधिक दीन होता गया।

उत्पादन के साधनों में निरन्तर परिवर्तन होता है, किन्तु सामाजिक सम्बन्ध एक हद तक स्थिर हो जाते हैं। उन्हें बदलने के लिए क्रान्ति होती है। जो समाज आज विकास के पथ पर है, कल जड़ और अचल होकर पिछड़ जाता है और एक प्रतिगामी शक्ति बन जाता है। उसे बदलने की आवश्यकता होती है। यह संघर्ष हर समाज में चला करता है। समाज की गति के अनुसार उसकी कला और संस्कृति में भी जड़ता अथवा चेतनता आती है। प्रगतिशील समाज में प्रगतिशील कला का जन्म होगा और बँधे समाज में प्रतिगामी कला का। कला अपने सामाजिक सम्बन्धों से हट कर अलग नहीं बनती। उन सामाजिक सम्बन्धों की ही वह प्रतिनिधि है।

अनेक समाज बने और काल के गाल में समा गये—गोचर समाज, कृषि समाज, सामन्ती समाज, पूँजीवादी समाज। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार उन्होंने कला गढ़ी। आज फिर समाजवाद के अंतर्गत सामूहिक कला सर्वसाधारण तक पहुँच रही है और एक संकुचित अवकाश-भोगी वर्ग की सम्पत्ति नहीं रही।

समाज और कला की गति के नियम सर्वदेशीय हैं और भारतीय समाज और कला पर भी लागू होते हैं, यद्यपि यहाँ की विशेष परिस्थितियों के अनुसार उनकी गढ़न पर प्रभाव पड़ता है। हिन्दी साहित्य का प्राचीन इतिहास एक लम्बे सामन्ती युग का इतिहास है। यद्यपि इस दीर्घ काल में अनेक

विदेशी जातियाँ भारत में आईं और भारतीय समाज में भारी उथल-पुथल हुई, हमारे उत्पादन के साधनों और सामाजिक सम्बन्धों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अँग्रेज़ों के आगमन के साथ आधारभूत परिवर्त्तन के लक्षण हमारी उत्पादन-पद्धति में पैदा होने लगे और सामन्ती साहित्य से भिन्न एक नये प्रकार के साहित्य, कला, विज्ञान और दर्शन की सृष्टि हुई।

हमारे साहित्य की एक अपनी प्रगतिशील परम्परा है। जो साहित्य सामाजिक जीवन में प्रगतिशील शक्ति है, उसे हम प्रगतिशील साहित्य कहेंगे। सभी साहित्य सदैव ही प्रगतिशील नहीं होता। भक्त कवियों का काव्य अपने समय और परिस्थितियों के अनुसार प्रगतिशील था, यह कवि जनता के कवि थे और उसके दैन्य और दारिद्र्य से प्रभावित होकर लिखते थे। अनेक सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों पर उन्होंने कुठाराघात किया। इनके विपरीत रीतिकालीन कवियों ने कला का बाह्य परिष्कार तो अवश्य किया, किन्तु उनकी सामाजिक चेतना किसी प्रकार प्रगतिशील नहीं कही जा सकती।

इस साहित्य का कला-कौशल पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है और उसमें उन्नति की गुंजाइश नहीं। लोक-जीवन की पीड़ा समझने और उसे बदलने की क्षमता भी इस साहित्य में नहीं। यह आवश्यक था कि इस प्रवृत्ति से अलग होकर साहित्य को नया रास्ता मिले।

भारतेन्दु और द्विवेदी-युग में हिन्दी-साहित्य को नई जीवन-प्रेरणा मिली। बीते युग की साहित्यिक भाषा त्याग कर उन्होंने प्रचलित भाषा का प्रयोग किया, जो उतनी कोमल और मधुर तो न थी किन्तु जीवन से आतुर थी। पुराने नक्शे, नायक-नायिका भेद, नख-शिख वर्णन आदि त्यागकर उन्होंने देश और समाज के अनुकूल समस्याओं को अपनाया। इस नई पीढ़ी के साहित्य का आरम्भ "भारत-दुर्दशा" से होता है और उसकी प्रगति के स्वाभाविक पग मैथिलीशरण गुप्त जी 'एक भारतीय आत्मा' सुभद्राकुमारी चौहान, 'नवीन' और 'दिनकर' की रचनाएँ हैं।

छायावादी कवियों ने भाषा का रूप खूब निखारा और सँवारा। श्रीमती

महादेवी वर्मा अथवा डा० रामकुमार वर्मा के पदो में असाधारण कोमलता और मधुरता है। एक अद्वितीय संगीत-लहरी और भाव-व्यंजना इस काव्य में हमें मिलते हैं।

छायावाद के आरम्भिक कवि अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत थे, इसका प्रमाण 'पन्त' और 'निराला' की अनेक कविताएँ और 'प्रसाद' के उपन्यास हैं। सन्' २४ की एक कविता उद्बोधन में 'निराला' लिखते हैं :—

"गरज गरज घन अन्धकार मे गा अपने संगीत,
बन्धु, वे बाधा-बन्ध-विहीन,
आँखो मे नव जीवन की तू अञ्जन लगा पुनीत।
बिखर झर जाने दे प्राचीन।
बार बार उर की वीणा में कर निष्ठुर झङ्कार,
उठा तू भैरव निर्जर राग,
बहा उसी स्वर में सदियों का दारुण हाहाकार।
सञ्चरित कर नूतन अनुराग ॥"

["अनामिका" पृष्ठ ६७

छायावादी कवियों की प्रेरणा समय के प्रवाह के साथ अधिकाधिक व्यक्तिवादी और अन्तर्मुखी होती गई। यह स्वाभाविक था, क्योंकि विदेशी पूँजीवादी साहित्य और कला का प्रभाव भारत में पड़ रहा था। पूँजीवाद के अन्तर्गत मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध टूट जाते हैं,-व्यक्ति और व्यक्ति का सम्बन्ध टूट कर व्यक्ति और पूँजी का नाता बनता है। सब सामाजिक सम्बन्धों का आधार पूँजी बन जाती है। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में पला कवि अपने को अकेला पाकर विकल होता है और उसका क्रन्दन कविता में भर जाता है। कॉडवेल अपनी पुस्तक Illusion and Reality में लिखते हैं :—

"The bourgeois is always talking about liberty because it is always slipping from his grasp...The bourgeois poet treads a similar circle. He finds the loneliness which is

the condition of his freedom unendurable and coercive He finds more and more of his experience of the earth and the universe unfriendly and a restraint on his freedom He ejects everything social from his soul and finds that it deflates, leaving him petty, empty and insecure"

हिन्दी के अनेक प्रमुख कवि और लेखक इस वर्णन के अन्दर आ जाते हैं—महादेवी जी, भगवती चरण वर्मा, 'बच्चन', 'अज्ञेय', नरेन्द्र। इन सभी की रचनाओं में एक दारुण अकेलापन है और हाहाकार है। "एकान्त-संगीत" में 'बच्चन' जी कहते हैं—

"भटका हुआ संसार में,
अकुशल जगत व्यवहार में,
असफल सभी व्यापार में, कितना अकेला आज मैं!"

आधुनिक हिन्दी-काव्य के आँसुओं का पारावार महादेवी जी के कोमल गीतों में उमड़ा है—

"दूर घर मैं पथ से अनजान!
मेरी ही चितवन से उमड़ा तम का पारावार,
मेरी आशा के नव अंकुर शूलों में साकार,
पुलिन सिकतामय मेरे प्राण!"

भगवती बाबू को अपने पंखों पर विश्वास नहीं कि उनकी उड़ान में वे देर तक साथ देंगे। 'अज्ञेय' की कविताओं और गद्य में अवसाद का कठिन भार है, और अन्दर ही अन्दर घुटने और कुंठित होने का भाव है :—

"फूला कहीं एक फूल!
विटप के भाल पर,
दूर किसी एक स्निग्ध डाल पर,
एक फूल—
खिला अनजाने में।

मलय-समीर उसे पा न सकी,
ग्रीष्म की गरिमा झुका न सकी,
सुरभि को उसकी छिपा न सकी
शिशिर की मृत्यु धूल !
फूल था या आग थी जली जो अनजाने में !
जिसकी लुनाई देख विटप झुलस गया—
सौरभ से जिसके समीरण उलझ गया,
भव निज गौरव को भूल गया,
सुमन के तन्तु की ही फाँसी से झूल गया !
"ऐसे फिर
जग की विभूतियों को छान कर
एक तीखे घूँट ही में पान कर
लाख लाख प्राणियों के जीवन की गरिमा,
हाय उस सुमन की छोटी-सी परिमा !
मूर्च्छित हो कुसुम स्वय ही वह चू पड़ा—
जानने को जाने किस जीवन की महिमा !"

["चिन्ता"

पराजयवाद और नियतिवाद के इस रुद्ध स्वर को बदलने के लिए भारतीय साहित्य मे प्रगतिवाद का आन्दोलन उठा। इस आन्दोलन की जड़ें हमारे साहित्य की धरती मे हैं। कहा बाहर की दुनिया से यह 'प्रबल झंझावात' नहीं आया। हमारे जीवन के अन्दर परस्पर सघर्ष करती प्रवृत्तियों के बीच से ही प्रगति और परिवर्तन की यह माँग उठी।

प्रगतिशील लेखक सघ के सगठन ने हमारे समाज और साहित्य में परिवर्तन की माँग को दृढ स्वर में आगे रक्खा। हमारे साहित्य की गति रुक गई थी। जीवन की प्रगतिशील शक्तियों से अलग होकर वह सिसक रहा था और विकास का मार्ग उसे सूचीभेद्य अन्धकार में कहा दिखाई न देता था। एक अजब बेबसी और अकेलेपन की भावना उसमे भर गई थी, यहाँ तक कि

वह 'हालावाद' को भूल कर 'हलाहलवाद' की ओर आकर्षित हो रहा था। यह असहाय भाव हमें नरेन्द्र शर्मा की तरह सचेत कवियों की रचना में भी मिलता है —

"दूर हूँ, परदेश में हूँ, गूँज मत, ओ देश के स्वर !
उमड़ मंदाकिनी नदी-सी बह चलेगी पीर,
बहुत चौड़ा पाट, वह धारा बड़ी गम्भीर,
फट गया है हृदय, हैं दो टूक ज्यों दो तीर—
कैसे समायेगी भला, सब बाँध मेरे हुए जर्जर !
गूँज मत, ओ देश के स्वर !

\+ \+ \+ \+

"जल चुका है स्नेह मेरा, बुझ गया है दीप,
जल गया विश्वास का मोती, पड़ी है सीप !
बहुत काले साँप मेरा पथ गये हैं लीप—
हूँ राख का-सा ढेर मैं, है भस्म सब सुकुमार अंतर !
गूँज मत, ओ देश के स्वर !"

["मिट्टी और फूल", पृष्ठ ६१

इस आत्म-समर्पण और आत्मघात की भावना के विरुद्ध प्रगतिवाद ने चेतावनी दी। उसने हमारे साहित्यकारों का ध्यान जीवन की प्रगतिशील शक्तियों की ओर खींचा और उनके सामाजिक दायित्व के प्रति उन्हें सचेत किया। साहित्यकारों का महान् भ्रम, कि वे सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होते, प्रगतिवाद ने तोड़ने का प्रयत्न किया। इतिहास की गति-विधि का अध्ययन कर नये लेखकों ने निश्चित विजय की घोषणा की और नया विश्वास और बल प्राप्त किया।

साहित्य की अनेक प्रतिगामी धाराओं का नये आन्दोलन ने विरोध किया, इनमें प्रमुख थी वासना अथवा अश्लीलता की प्रवृत्ति, जो प्रगतिशीलता का स्वाँग भरकर हमारे साहित्य में घुस रही थी। प्रगतिशील लेखक संघ की घोषणा में साम्राज्यवाद और समाज की प्रतिगामी शक्तियों के साथ

अश्लीलता पर भी अस्त्र-प्रहार करने का विशेष आदेश है। प्रगतिवाद नारी को सदियों के बन्दीगृह से निकालकर आर्थिक स्वतन्त्रता देने के पक्ष में है, किन्तु प्रगतिशीलता का ढोंग भरनेवाले कवि और लेखक नारी का अनियन्त्रित शोषण चाहते हैं। वह नारी को प्रगति-पथ की सहगामिनी के रूप में न देख कर भोज्या के रूप में ही देखते हैं।

प्रगतिशीलता के आन्दोलन ने अनेक साहित्यिक भ्रमों का निवारण किया, जिनमें मुख्य था कलाकार का समाज से अलग रहकर पनपने का अहकार। कला अन्य सामाजिक साधनों के समान ही परिस्थितियों को बनाने या बिगाड़ने का अस्त्र है। यह स्पष्ट होने पर अनेक सजग कलाकार प्रगतिवाद की ओर उन्मुख हुए, क्योंकि वह अपनी कला की सामाजिक उपयोगिता समझने लगे थे। यदि कलाकार प्रतिगामी शक्तियों का विरोध नहीं करता, तो वह अनजान में ही उनका शिकार बन जाता है, यह बात समकालीन यूरोप का इतिहास सिद्ध कर रहा था।

सामाजिक आन्दोलनों से कलाकार विमुख रह सकता है, इस भ्रम में यूरोप के दर्जनों कलाकार फ़ासिज़्म के शिकार बने। इस भ्रम से उनकी कला और संस्कृति भी फासिज्म की जजीरों में बँध गई, क्योंकि अपनी रक्षा के लिए उन्होंने विचारों की दुनिया में कोई मोर्चा नहीं बनाया।

भारतीय प्रगतिवाद को साम्राज्यवाद और फ़ासिज़्म के विरुद्ध लड़ना है, अनेक प्रतिगामी सामाजिक शक्तियों से लोहा लेना है और समाज को बदलने में अपने दायित्व के अनुरूप ही भाग लेना है। आदर्श समाज गढ़ने में साहित्य तटस्थ अथवा उदासीन नहीं रहेगा, वरन् सचेत और क्रियाशील होगा।

जिन अमर कलाकारों ने प्रगतिशील आन्दोलन में भाग लिया, उनमें प्रेमचन्द का स्थान पहला है। आपने अपनी कला को शुरू से ही स्वाधीनता का अस्त्र बनाया और जनता के दुःख-दर्द का साथी समझा। प्रेमचन्द के उपन्यासों में भारतीय किसान के जीवन और शोषण का मर्मस्पर्शी चित्रण है। इस संघर्ष से किस प्रकार किसान को मुक्ति मिलेगी, उसका विवरण भी

आपके उपन्यासों में है। किन्तु आपकी कथा का अन्त बहुधा हृदय-परिवर्तन से होता है। "प्रेमाश्रम" या "सेवा-सदन" को आप रोग का इलाज समझते थे। यह उपचार यथार्थ न होकर आदर्शवादी अधिक है।

प्रेमचन्द औद्योगिक क्रान्ति के महत्व को भी न समझ सके। इस क्रान्ति ने बहुत हद तक मनुष्य को भौतिक परिस्थितियों के बन्धन से मुक्त किया, किन्तु प्रेमचन्द किसी आदिम समाज की ओर लौटना ही उचित मार्ग समझते थे। इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द की कला ने समाज की कुरीतियों पर मर्म-आघात किया और उसे प्रगति के पथ पर अग्रसर किया। प्रगतिवाद के प्रभाव से प्रेमचन्द की दृष्टि में अधिक वैज्ञानिकता और यथार्थ की अधिक पहचान आई। "गोदान" और "कफ़न" आदि पिछले काल की रचनाओं में हमें इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। प्रेमचन्द कलाकार समय के साथ क़दम मिलाकर बराबर चले।

हिन्दी प्रगतिवाद का एक बड़ा क़दम छायावादी कवि पन्त की कला का परिवर्तन था। "युगवाणी" में पन्त की प्रेरणा ने अपने कोमल अन्तर्मुखी गीत त्याग कर समाजवादी विचार-दर्शन अपनाया। कल्पना के रंगमहल छोड़कर आपके काव्य ने कठोर और शुष्क धरती का वरण किया। "ग्राम्या" में पन्त के काव्य का प्रौढ़तम स्वरूप हमें मिलता है। "पल्लव" से भी अधिक मँजी कला एक नवीन और ऊँची सामाजिक चेतना लेकर "ग्राम्या" के काव्य में आई। प्रेमचन्द को छोड़कर कदाचित् किसी अन्य कलाकार ने भारतीय ग्राम का इतना मार्मिक चित्रण भी नहीं किया।

"युगवाणी" का कवि अपने अहम् के बन्धन तोड़ एक नवीन आदर्श से प्रेरित होकर लिख रहा है—

> "खुल गये छन्द के बन्ध,
> प्राश के रजत पाश,
> अब गीत मुक्त,
> औ' युगवाणी बहती अयास।
>
> \+ \+ \+

"सुन्दर, शिव, सत्य
कला के कल्पित माप-मान
बन गये स्थूल,
जग-जीवन से हो एक प्राण। ."

['नवदृष्टि' पृष्ठ १५

"गुञ्जन" के सुकुमार कवि की कला में जो नया बल और पौरुष आया है, उसका अन्दाज़ हम "ग्राम-देवता" जैसी कविता से कर सकते हैं। भारतीय ग्राम के इतिहास, उत्थान और पतन पर एक विहगम दृष्टि इस कविता मे मिलती है। कवि की भाषा इन रचनाओं में जनता के बिलकुल पास आ गई है, और पन्त की बोझिल भाषा के प्रति एक मुख्य आरोप मिट गया है। नारी के प्रति "ग्राम्या" के छन्दों को पढकर कोई निष्पक्ष आलोचक यह न कह सकेगा कि प्रगतिवादी लेखक का दृष्टिकोण नारी के प्रति "अपमानजनक" है।

प्रेमचन्द और पन्त का प्रगतिशील लेखक सघ मे आना हमारी साहित्यिक गति का निर्देश मात्र था। प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य की धमनियो मे बहती रक्त-धार है। आज वह चेतनता पाकर हमारे साहित्य की रग-रग में प्रवेश कर चुकी है। उसकी लोकप्रियता बढ़ रही है क्योंकि हमारे समाज और साहित्य का कल्याण ही उसकी मूल प्रेरणा है।

जो तरुण और विकासमान कलाकार इस विचार-धारा से प्रभावित हुए हैं, उनमे अग्रगण्य नरेन्द्र, रागेय राघव, राहुल, यशपाल, सुमन, भगवतशरण, नागार्जुन, केदार, अमृत राय, शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा, आदि अनेक लेखक हैं। अनेक प्रतिभावान नये लेखक भी निरन्तर इस धारा को अपना रहे हैं। हमारे कवियों ने जन-गीत को बड़ी सफलता से अपनाया है और जनता के सुख-दुख को सहज अनुभूति-भरे छन्दों में व्यक्त किया है। इस दिशा में नरेन्द्र के "लाल निशान" नाम के गीत एक क्रान्तिकारी प्रयास थे। इन गीतों की भाषा कवि की वाणी को सीधा जनता तक ले जाती है। हमारी संस्कृति के एक विस्मृत और अमूल्य अंग को नया

जीवन इस प्रयास से मिला है। खेमसिंह नागर, साहबसिंह मेहरा, रामकेर और धर्मराज आदि अनेक जन-कवि आज सामाजिक चेतना प्राप्त कर वेग से लिख रहे हैं।

'प्रगतिशील लेखक सामाजिक और सास्कृतिक क्रान्ति चाहता है। वह एक अधिक विस्तृत और विकसित धरातल पर मानव सन्कृति का निर्माण चाहता है। अपनी पुरानी विरासत को सम्मान सहित अपना कर वह आगे बढ़ता है। कुछ भी मूल्यवान् वस्तु वह पीछे नहीं छोड़ सकता। किन्तु अवाछित भार भी वह ढोना नहीं चाहता, क्योंकि आज कल को दोहरायेगा नहीं। कल की सस्कृति आज से भी अधिक विकसित और ऊँची होगी।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ

आधुनिक हिन्दी साहित्य ने बहुत स्वस्थ परम्परा का उत्तराधिकार पाया है, यह परम्परा सन्त कवियों की परम्परा है, भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के सचेत लेखकों की परम्परा है, और अपनी अनेक सीमाओं के बावजूद, अपने अन्तर्मुखी अहम्परक दृष्टिकोण के बावजूद, छायावाद के देश-प्रेम में पगे काव्य की परम्परा है। आधुनिक हिन्दी काव्य ने प्रेमचन्द का उत्तराधिकार पाया, जिन्होंने भारतीय किसान-वर्ग का साहित्य में अभूतपूर्व चित्र उतारा, जिनका दृष्टिकोण स्वस्थ, सामाजिक और क्रान्तिकारी दृष्टिकोण था। अपने जीवन के उत्तरकाल में, प्रगतिशील आन्दोलन से नाता जोड़ कर प्रेमचन्द अपने साहित्य में सामाजिक समस्याओं के और भी अधिक यथार्थवादी हल खोज रहे थे। इसके उदाहरण 'गोदान', क़फ़न' और 'मंगल-सूत्र' हैं।

यह लेखक भारतीय जनता की अग्रगामी प्रेरणा के, उसकी सामाजिक और राजनीतिक मुक्ति की प्रेरणा के प्रतिनिधि हैं। किन्तु सन् '३० तक भारतीय जनता दो बार पराजय का अनुभव कर चुकी थी। इसका कारण राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतृत्व की नीति थी, जो विदेशी शासकों से समझौता करने का इच्छुक था, और समझौता करने के लिए जन-आन्दोलनों का दबाव विदेशी शासक-वर्ग पर डालना चाहता था। गान्धी जी के शब्दों में "एक ओर तो वह अभूतपूर्व पैमाने पर जनता का अवैधानिक आन्दोलन रोकना चाहते थे और दूसरी ओर रक्त-रञ्जित क्रांति।"

चौरी-चौरा-काण्ड के बाद सत्याग्रह-आन्दोलन वापस लेने पर राष्ट्रीय आन्दोलन ने घोर निराशा और पराजय की भावना अनुभव की थी। नेहरू अपनी 'आत्मकथा' में और सुभाष बोस अपनी 'भारतीय लड़ाई' में, दोनों ही इस असन्तोष की भावना को व्यक्त करते हैं।

इस युग का साहित्य भी इसी निराशा को, या पराजय की भावना को व्यक्त करता है। 'नवीन' अपने 'पराजय-गीत' में लिखते हैं :—

"आज खड्ग की धार कुण्ठिता, है ख़ाली तूणीर हुआ।"

पन्त भी 'परिवर्तन' में इसी निराशा को स्वर देते हैं। हम कह सकते हैं कि छायावादी काव्य का दुःखवाद और उसकी अन्तर्मुखी दृष्टि इसी भावना के स्वर हैं। मध्य वर्ग का कवि अपने चारों ओर गहन कुहासा और अन्धकार देखता था। सन् '३० के बाद तक राष्ट्रीय आन्दोलन में एक ठहराव था और यह असम्भव था कि राष्ट्र की भावना को कवि का स्वर व्यक्त न करे। कवि की भावना वह कोमल वीन है, जिसके तारों को राष्ट्र के जीवन का हल्के से हल्का स्पन्दन भी झंकृत कर जाता है।

छायावाद का उत्तरकाल

छायावाद के उत्तरकाल में हिन्दी साहित्य में दो विभिन्न धाराएँ प्रकट होती हैं—(१) व्यक्तिवादी और अहम्‌वादी धारा जिसके प्रतिनिधि श्री भगवती चरण वर्मा और 'बच्चन' हैं। 'अंचल' के काव्य में यह धारा नाशवादी और अश्लीलता की ओर जाने वाली प्रवृत्तियाँ प्रकट करती है। 'अज्ञेय' इस धारा को प्रयोगवादी दिशा में ले जाना चाहते हैं। (२) उत्तर-छायावादी साहित्य प्रगतिशील धारा में एक अधिक स्वस्थ और सामाजिक दृष्टिकोण अपनाता है। यह धारा सन् १९३५-३६ के लगभग भारतीय साहित्य में संगठित रूप अपनाती है। यह आन्दोलन सामाजिक यथार्थ का अधिक स्वस्थ चित्रण करना चाहता है और साहित्य का प्रयोग जीवन को अधिक स्वस्थ बनाने के लिए करना चाहता है।

हिन्दी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियाँ

जो विशेष प्रवृत्तियाँ आज हिन्दी साहित्य में हम देख सकते हैं, उनका विवरण इस प्रकार है—

(१) रहस्यवाद और अन्य परलोकमुखी विचार-धाराएँ। हिन्दी के छायावादी काव्य का एक पक्ष उसकी पलायनवादी प्रवृत्ति थी, किन्तु वह भारतीय

जीवन की गहरी वेदना और व्यथा की ही एक प्रतिक्रिया थी। छायावादी कवि समाज की पीड़ा से त्रस्त हो कर कल्पना-लोक का सौन्दर्य खोजता था, किन्तु उसके गीत में समाज की व्यथा गुँथी अवश्य थी। जब जीवन को बदलने और अधिक स्वस्थ बनाने का विश्वास मनुष्य खो बैठता है, तभी वह आध्यात्मवाद को अपनाता है।

यह आध्यात्मवाद श्री सुमित्रानन्दन पन्त के नवीन काव्य मे अरविन्द-दर्शन के रूप मे प्रकट होता है। पन्त जी का काव्य अब तक तीन मंजिलों से गुजरा है—छायावाद, मार्क्सवाद और अरविन्दवाद। पन्त जी के काव्य में जो अजस्र वेग और बल पहले और दूसरे काल मे था, वह अब क्षीण पड रहा है। 'पल्लव' और 'ग्राम्या' की समता आज की उनकी कोई रचना नहीं कर पाती। पन्त जी के नये काव्य में भी सुन्दर छन्द हैं; प्रकृति-सौन्दर्य से वह विह्वलित होते हैं, इसके भी नये काव्य में लक्षण हैं; किन्तु जब उनकी दृष्टि इस पृथ्वी पर जम ही नहीं रही, तब इसका सौन्दर्य और उत्पीड़न उनके काव्य का मुख्य विषय कैसे बन सकता है? पन्त जी की सामाजिक चेतना स्वस्थ अवश्य है, किन्तु आज वह जीवन की विभीषिका को मिटाने का हल वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं ढूँढ रहे, वह 'अभिशापित' और 'त्रासित' वर्ग को 'प्रभु के द्वार' आने का निमन्त्रण देते हैं। पन्त जी मनुष्य को आज के संघर्ष से मुक्त अवश्य देखना चाहते हैं, वह लिखते हैं—

> "जीवन के बन्धन खुल जाएँ,
> मनुजों के तन-मन चल जाएँ,
> जन आदर्शों पर तुल जाएँ!
> खिले धरा पर जीवन शतदल,
> कूक उठे फिर कोयल। ..." ('स्वर्ण-धूलि')

पन्त जी श्री अरविन्द के राजनीतिक विचारों से भी सहमत नहीं हैं। कोरिया पर श्री अरविन्द ने जो वक्तव्य दिया था और आशंका प्रकट की थी कि अमरीका सोवियत संघ के प्रति कहीं नरमाई न दिखाये, उससे पन्त जी असंतुष्ट थे। उनका विचार था कि श्री अरविन्द को राजनीति में न पडना

चाहिए। पन्त जी का हृदय जीवन की पीड़ा से आज भी द्रवित होता है, उन्होंने शान्ति-आन्दोलन से पूर्ण सहानुभूति रक्खी है, और सभी प्रगतिशील आन्दोलनो का एक हद तक समर्थन करते हैं। उनके काव्य मे और जीवन मे आज भी जो स्वस्थ और सामाजिक तत्त्व हैं, उन्हे भूलना नहीं चाहिए। जो अरविन्द-प्रभाव उनके काव्य पर आज छा रहा है, उसकी मित्रोचित आलोचना होनी चाहिए।

हिन्दी के अन्य प्रमुख कवियो मे भी हम स्वस्थ और सामाजिक दृष्टि के साथ-साथ ऐसे ही आध्यात्मवादी तत्त्व देखते हैं। 'निराला' जी के विचार-दर्शन पर वेदान्त का भारी प्रभाव रहा है, किन्तु उनका हृदय सदैव ही दु खी जीवन से द्रवित हुआ है। 'निराला' जी के समान विशाल और उदार हृदय सदैव और सहज ही अनुभूति से गलने वाले साहित्यकारों मे भी कम मिलता है। इसी प्रकार श्रीमती महादेवी वर्मा की विचार-धारा पर रहस्यवाद की छाप है, किन्तु निरन्तर ही देश की पीडा से उनकी करुणा उमड़ी है और सामाजिक हलचलो मे वह आगे बढ़ कर भाग लेती रही हैं। उनके साहित्य में भी हम उनकी विगलित करुणा, उनकी कोमल-सूक्ष्म अनुभूतियाँ और मानव-जीवन की पीड़ा के प्रति गहरी समवेदना पाते हैं।

प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन मे, जो कि सामाजिक हित की भावना से आतुर सभी साहित्यकारो का आन्दोलन है, इन साहित्यिक महारथियों को आदर और सम्मान का स्थान मिलना चाहिए। विभिन्न भाव-धाराएँ हम इस साहित्य में पाते हैं, उनमें परस्पर मैत्रीपूर्ण आलोचना-प्रत्यालोचना चलती रहेगी। किन्तु आन्दोलन की सीमाओं और उसकी वर्तमान अवस्था को ध्यान में रखते हुए, इस आलोचना का स्तर ऐसा होना चाहिए कि हमारे संगठन का विस्तार और गहराई बढे।

(२) हिन्दी के अनेक लेखक अपनी स्वस्थ, सामाजिक भावना के साथ ही परलोकमुखी, आध्यात्मवादी विचारधाराओ की ओर झुकते हैं। उनमें से अधिकाश गान्धीवादी भावधारा से भी प्रभावित हैं। इस कोटि में आज के पुरानी पीढ़ी के प्रमुख हिन्दी लेखक आते हैं। यह लेखक काग्रेस के नेतृत्व

की नीतियो का आज समर्थन नहीं कर पाते। वे देखते हैं कि भारतीय जनता की अवस्था उत्तरोत्तर बिगड़ती जा रही है। पुराने राष्ट्रीय नेतृत्व के प्रति उनके भ्रम बड़ी तेजी से टूट रहे हैं, और यह निर्विवाद है कि जीवन की गति उन्हें अधिक वैज्ञानिक विचार-दर्शन की ओर झुकायेगी।

(३) हिन्दी साहित्य मे हम अन्धराष्ट्रवाद और साम्प्रदायिकता के भी भीषण लक्षण पाते हैं। यह विचार-धारा देश के बटवारे के बाद बहुत बलवती हो गयी थी। हिन्दी की बहुत-सी तत्कालीन रचनाओ पर इसका प्रभाव विशेष रूप से स्पष्ट था। भाषा के प्रश्न पर यह विचार-धारा बहुत प्रतिगामी रूप धारण कर लेती है। इस विचार-धारा के लोग देश की अन्य भाषाओ के अधिकार ठुकरा देना चाहते हैं। वे हिन्दी के लिए पूरे देश मे वही अधिकार चाहते हैं, जो अँग्रेजी को प्राप्त थे। वे चाहते हैं कि सभी प्रान्तो मे हिन्दी विश्वविद्यालयो और न्यायालयो की भाषा बने। प्रगतिशील आन्दोलन देश की सभी भाषाओं के लिए विकास का समान अधिकार चाहता है। जिस प्रकार किसी समय अँग्रेज़ो ने उनके विकास का मार्ग बन्द कर रक्खा था, वही आज हिन्दी करे, यह बात सभी विचारशील व्यक्तियो को अग्राह्य होगी।

इसी प्रवृत्ति के साथ इस हिन्दी भाषा के सरकारी स्वरूप पर पुनरोत्थानवादी प्रवृत्ति की हम भीषण छाप पाते हैं। यद्यपि डा० रघुवीर ने अपने विचित्र प्रयोगो से अपने को हास्यास्पद बना दिया, फिर भी हिन्दी भाषा का जो स्वरूप हम देखने लगे हैं, उस पर रघुवीरी प्रयोगो की स्पष्ट छाप है। जो सरकारी हिन्दी आज प्रचलित हो रही है, वह दुर्बोध तो है ही; अँग्रेज़ी या प्रचलित हिन्दी मे उसका अनुवाद करके ही हम उसका आशय समझ सकते हैं। साथ ही हिन्दी के साथ मित्रता के रूप मे यह भारी विश्वासघात भी है। इस विकृत भाषा को कोई भी प्रश्रय देना हिन्दी के विकास के लिए घातक होगा।

सन्तोष की बात यह है कि हिन्दी के लेखक इस भाषा के समर्थक नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी के हित में इन प्रयोगो का हम निर्मम विरोध करें, ताकि हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य मे किसी प्रकार की अवाछित बाधा न पडे। हमे यह माँग करनी चाहिए कि नयी शब्दावली

चनाने का काम सरकार लेखकों को दे, नहीं तो हमारी भाषा की और भी भीषण दुर्गति होगी।

इस प्रश्न के साथ ही एक और प्रश्न भी जुड़ा है, वह यह कि अल्पमत की भाषा के विकास में कोई बाधा डालना बड़ी भूल होगी। जनवादी दृष्टि-कोण यही हो सकता है कि स्वतन्त्र देश और समाज में सभी भाषाओं को विकास का पूर्ण अवसर और अधिकार होना चाहिए।

(४) हिन्दी साहित्य में आज हम अनेक ह्रासोन्मुखी पूँजीवादी प्रवृत्तियों भी पाते हैं। क्योंकि आज ससार का कोई भी देश दूसरे देशों से कट कर अलग नहीं रह सकता, इसलिए ये ह्रासोन्मुखी धाराएँ भी नवीनतम आधुनिक कला का रूप धर कर हमारे बीच में आती हैं। इनके प्रति सचेत रहना और इनके विरुद्ध सघर्ष करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। इन धाराओं में फ्रॉयिड की विचार-धारा विशेष बलवती है। इसके प्रभाव से कलानग्न कामुकता और अश्लीलता की ओर मुड़ती है। फ्रॉयिडियन कला-पद्धति की चिन्तनीय छाप कभी-कभी हम प्रतिष्ठित प्रगतिशील लेखकों की रचनाओं पर भी पाते हैं।

मनोविश्लेषण-पद्धति का विशेष प्रभाव श्री इलाचद्र जोशी की विचार-धारा पर रहा है, किन्तु यह प्रभाव उनकी कला पर अब कम हो रहा है। 'प्रेत और छाया' और 'पर्दे की रानी' के बाद जोशी जी 'निर्वासित' लिखते हैं। इस उपन्यास में जोशी जी मानसिक ग्रन्थियों को छोड़कर राजनीतिक ग्रन्थियों को सुलझाने की चेष्टा करते हैं। 'निर्वासित' में जोशी जी ने आतक-वाद के जीवन-दर्शन को अपनाया है, किन्तु फ्रॉयिड का प्रभाव आपकी कला में कम होता है। 'मुक्तिपथ' और "सुबह के भूले" में जोशी जी और भी आगे बढ़ कर सामूहिक सगठनों का समर्थन करते हैं।

क्योंकि जीवन सतत गतिशील है, कोई भी लेखक सदैव ही अपनी दार्शनिक भूमि पर अटल और स्थिर नहीं रहता। इधर चीन में जो नव-निर्माण की शक्तियाँ जाग्रत हुई हैं, उनसे हिन्दी का लेखक बहुत प्रभावित

हो रहा है। भारतीय जीवन का यथार्थ लेखक के आत्मसम्मान को निरन्तर कुचलता है और ठुकराता है, और लेखक इससे त्राण पाना चाहता है।

आधुनिक चीन के अभियान से हिन्दी के जो चोटी के लेखक विशेष प्रभावित हुए हैं, उनमें जोशी जी का स्थान प्रमुख है। भारतीय जीवन के लिए आप इसी प्रकार की स्वस्थ, सामाजिक व्यवस्था की आकांक्षा रखते हैं। आपकी कला पर इस दृष्टिकोण का प्रभाव पड रहा है, हम यह स्वाभाविक समझते हैं।

(५) इधर हिन्दी कविता में एक विशेष धारा प्रचलित हुई है, जिसे प्रयोगवाद कहा जाता है। इस धारा के प्रमुख समर्थक 'अज्ञेय' हैं। आप अपने चिन्तन में टी० एस० इलियट के समर्थक हैं। यह विचित्र बात है, क्योंकि हिन्दी के सबसे बड़े अहम्‌वादी लेखक हो कर भी आप इलियट की काव्य-परिभाषा को स्वीकार करते हैं, यानी "कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, वरन् उससे मुक्ति है!"

पाश्चात्य देशों में प्रयोगवाद ने कला-रूपों को भारी हानि पहुँचायी है। भाषा, ध्वनि, संगीत सभी के परम्परागत साँचों को प्रयोगवाद तोड़ता है। नवीन-मात्र का वह पोषक और प्रशंसक होता है। कला के प्रयोग अभिव्यक्ति के अस्त्र पर सान रक्खें, उसे अधिक तीखा बनाएँ, तभी उनका स्वागत हो सकता है। पाश्चात्य कला के ह्रासोन्मुखी प्रयोग अभिव्यक्ति को धुँधला करते हैं। भाषा, संगीत और उपमाओं को अलंकार और नवीनता मात्र के लिए सजाते हैं। निरन्तर यह कला भाव-शून्य और विकृत हो रही है।

जिन कवियों का संकलन पहले और दूसरे 'सप्तक' में हुआ है, उनमें से अधिकांश कवि स्वस्थ, जनवादी भावना रखते हैं, उनमें कुछ तो प्रयोग-वादी हैं ही नहीं। कुछ कवियों के प्रयोगों में हम अवश्य पाश्चात्य ह्रासो-न्मुखी कला का प्रभाव देखते हैं। किन्तु अवश्य ही स्वस्थ और जनवादी कवि-चेतना ऐसे ही प्रयोगों को अपनायेगी, जो कला के सामाजिक तत्वों को नष्ट नहीं करते, वरन् उन्हें और भी विकसित और गहरा करते हैं।

प्रगतिशील साहित्य

आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक प्रमुख धारा प्रगतिवाद के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी है। हर-एक युग और समाज में जीवन और साहित्य में परस्पर प्रगतिशील और प्रतिगामी शक्तियों का संघर्ष चला करता है। यद्यपि अपने स्वभाव के अनुकूल साहित्यकार अधिकतर जीवन की प्रगतिशील शक्तियों का ही साथ देता है, फिर भी यह कहना अनुचित होगा कि साहित्य में प्रतिगामी शक्तियों की अभिव्यक्ति असम्भव है। आज भी हम साहित्य में जीवन और मरण की शक्तियों का संघर्ष देख सकते हैं।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, हिन्दी साहित्य की एक जीवित, स्वस्थ परम्परा चली आ रही है। इसी परम्परा ने सन् १६३५-३६ में संगठित रूप लिया, जब प्रगतिशील लेखक संघ की भारत में स्थापना हुई। यह परम्परा जनहित में कला का प्रयोग करने वाली परम्परा है, जो हिन्दी में सन्त कवियों के काल से चली आ रही है और जिसके पोषक भारतेन्दु, द्विवेदी युग के लेखक, छायावादी कवि और प्रेमचन्द थे।

सन् १६३५ में विश्व के लेखकों का एक सम्मेलन पेरिस में हुआ, जिसका ध्येय युद्ध और फासिज़्म की बढ़ती हुई शक्तियों का लेखकों द्वारा विरोध था। हमारे देश के प्रमुख बुद्धिजीवियों और लेखकों ने भी इस सम्मेलन का अभिनन्दन किया था। पहला भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन लखनऊ में सन् १६३६ में प्रेमचन्द के सभापतित्व में हुआ। इस सम्मेलन को गुरुदेव टैगोर और शरत बाबू के शुभ सन्देश मिले थे। दूसरा सम्मेलन अगले वर्ष कलकत्ता में हुआ, इस सम्मेलन के सभापति-मंडल में टैगोर का नाम था और उनका भाषण वहाँ पढ़ा गया था, यद्यपि वे स्वयं सम्मेलन में शामिल न हो सके थे।

प्रगतिशील लेखक संघ ने जो घोषणा-पत्र स्वीकार किया, उसका सजीव, सशक्त स्वर आज भी भारतीय लेखक के कानों में गूँजता है। इस घोषणा-पत्र ने साम्राज्यवादी दासता और सामन्ती शृंखलाओं के विरुद्ध जेहाद बोला और साम्प्रदायिकता, अन्धराष्ट्रवाद और रहस्यवाद आदि विचार-धाराओं की

ओर साहित्यकार का ध्यान आकृष्ट किया, जो जनता के सत्रयों में बाधक बनती हैं। इस घोषणा-पत्र ने विशेष रूप से साहित्य में कामुकता तथा अश्लीलता के प्रचार का विरोध किया और वैज्ञानिक और आधुनिक दृष्टि अपनाने के लिए साहित्यकार से आग्रह किया।

यह घोषणा-पत्र एक समर्थ साहित्यिक कृति था और नयी पीढ़ी के अगणित लेखकों को इससे प्रेरणा मिली।

यदि हम प्रगतिशील साहित्यिक अन्दोलन के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो हम देखेंगे कि पुरानी पीढ़ी के लेखकों में प्रेमचन्द और पन्त इस आन्दोलन से सबसे अधिक प्रभावित हुए थे। प्रेमचन्द के विचार-दर्शन पर इस आन्दोलन का प्रभाव उनकी अन्तिम रचनाओं मे स्पष्ट है। पन्त की काव्य-प्रेरणा ने इस प्रभाव से एक नयी दिशा अपनायी, जिसका फल हम 'युगवाणी', 'ग्राम्या' और 'रूपाभ' के सम्पादन में देखते हैं। नयी पीढी के बहुसख्यक प्रतिभावान् लेखक इस आन्दोलन मे शामिल हुए, इस वास्तविकता को सभी स्वीकार करेंगे। प्रगतिशील साहित्यकारों मे नरेन्द्र शर्मा, शिवदानसिह चौहान, यशपाल, राहुल साकृत्यायन, रामविलास शर्मा, भगवतशरण उपाध्याय, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, 'सुमन', रागेयराघव, केदार, नागार्जुन, 'पहाडी', अमृतराय, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गिरजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र, हरिव्यास, विष्णु, शमशेर, नेमिचन्द्र जैन, मुक्तिबोध, भारतभूषण अग्रवाल, महेन्द्र भटनागर, शील, नरेश मेहता, श्रीकृष्णदास, भैरवप्रसाद गुप्त, नामवरसिह, त्रिलोचन, ठाकुरप्रसादसिंह आदि के नाम आते हैं। फिर भी यह सूची अपूर्ण है। अनेक प्रतिभावान् तरुण लेखक दिन-प्रतिदिन इस साहित्यिक धारा से प्रेरणा पाते हैं, क्योंकि वे साहित्य के माध्यम से जीवन की प्रगतिगामी शक्तियों को बढ़ावा देने की लालसा रखते हैं। यह जीवन का स्वाभाविक क्रम है और इसे पृथ्वी की कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती।

इसके अतिरिक्त जनसाहित्य का भी इस अन्दोलन पर व्यापक प्रभाव पड़ रहा है। खेमसिंह नागर, साहब सिंह मेहरा, रामकेर और धर्मराज के

समान कवि विद्रोही किसान-आन्दोलनों में पले हैं, और प्रगतिशील साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

आन्दोलन का काल-विभाजन

१९३६-४२ में बुद्धिजीवी वर्ग की आत्मा और हृदय का काफी मन्थन हुआ। इस काल में राष्ट्रीय आन्दोलन ने वाम दिशा को अपनाया। किसान और मज़दूर-सभाएँ बना, छात्रों के संगठन बने और लेखकों का प्रगतिशील संगठन बना। इस पीढ़ी के बुद्धिजीवियों ने मार्क्सवाद और समाजवाद से विशेष प्रेरणा पायी। इस काल में प्रगतिशील साहित्यिक संगठन यद्यपि अपने शैशव में था, फिर भी इसकी लोकप्रियता और शक्ति व्यापक थी। इस प्रारम्भिक युग में प्रेमचन्द, पंत, नरेन्द्र शर्मा, यशपाल और शिवदानसिंह चौहान प्रगतिशील साहित्य रचने में लगे थे और हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में 'रूपाभ,' 'हंस' और 'विप्लव' सिरमौर थे। प्रगतिशील आन्दोलन का इस युग में कितना प्रभाव था, इसका कुछ अनुमान इससे हो सकता है कि आगरा की शाखा की प्रति सप्ताह बैठकें होती थीं और इन सभाओं में प्रगतिशील लेखकों के अतिरिक्त बा० गुलाबराय, डा० नगेन्द्र, डा० सत्येन्द्र और विश्वम्भर 'मानव', गोपालप्रसाद व्यास आदि बराबर भाग लेते थे। आगरा में उस समय यही जीवित साहित्यिक संस्था थी, पुरानी संस्थाएँ साहित्य में कम और प्रचार में अधिक दिलचस्पी रखती थीं।

१९४२-४७ तक के काल में राष्ट्रीय आन्दोलन के पूँजीवादी नेतृत्व ने अवसरवादिता को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। इस नेतृत्व ने निरन्तर जन आन्दोलनों का दबाव डाल कर साम्राज्यवाद से समझौता करने की नीति अपनायी थी, क्योंकि सफल राष्ट्रीय क्रान्ति से जितनी आशंका साम्राज्यवादी शासकों को थी, उतनी ही पूँजीवादी वर्ग के नेतृत्व को भी। सन् १९४२ में राजनीतिक परिस्थिति की विवेचना करते हुए कॉंग्रेस का प्रस्ताव कहता है कि आज विश्व में दो शिविर हैं, एक जनवाद और स्वाधीनता का जिसमें सोवियत संघ और चीन हैं, दूसरा बर्बर फासिज्म का जिसमें जर्मनी, इटली और जापान का शासक वर्ग है, इन दो दलों में भारत की स्वाभाविक सहानु-

भूति जनवादी शिविर के साथ है। अगस्त ४२ के प्रस्ताव की यह भूमिका थी। इस भूमिका के बाद प्रस्ताव का अन्तिम अंश आता है, जिसमें फासिज्म से भारत की रक्षा करने के लिए राष्ट्रीय सरकार की माँग है और इसके लिए एक तीव्र, लघु-काल के संघर्ष का ऐलान है।

इस प्रस्ताव का तत्काल प्रभाव यह था कि फासिज्म के विरुद्ध संघर्ष त्याग दिया गया। भारतीय जनता अपने तुरन्त के शत्रु ब्रिटिश साम्राज्यवाद को ही देख रही थी और अपने 'शत्रु के शत्रु' के प्रति उसके हृदय में कुछ नरमाई थी। राष्ट्रीय आन्दोलन का सही मार्ग यही हो सकता था कि दोनों शत्रुओं में से एक के प्रति भी संघर्ष शिथिल न पड़ता। उस परिस्थिति में यह तलवार की धार पर चलने के समान था।

प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन इस काल में राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा से कट कर एक हद तक अलग हुआ, किन्तु उसकी लोकप्रियता फिर भी बहुत बढ़ रही थी। इस काल में बंगाल के अकाल और साम्प्रदायिक दंगों आदि महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं पर प्रगतिशील लेखकों ने अन्य सभी स्वस्थ और सचेत लेखकों के साथ मिल कर काम किया। इस कारण प्रगतिशील आन्दोलन का विस्तार और प्रसार हुआ, किन्तु अपने इतिहास के इस द्वितीय चरण में प्रगतिशील लेखकों के चिन्तन में मार्क्सवादी दर्शन का पुट कम हो गया था। द्वितीय चरण में आन्दोलन का विस्तार हुआ, किन्तु उसकी गहराई न बढ़ी। पहले काल में हमारी बौद्धिकता और चिन्तन का सम्मान साहित्य-संसार में हुआ था, दूसरे काल में अपेक्षाकृत हमारी कर्मठता का अधिक सम्मान था, हमारे लेखन का कम।

आन्दोलन का यह व्यापक प्रसार शुभ था, किन्तु इसके साथ ही गहराई की भी आवश्यकता थी। आवश्यकता यह थी कि हमारा चिन्तन अधिक स्पष्ट और तीखा हो, हमारी साहित्य-रचना अधिक वेगवती, ओजमयी और सबल हो।

पहले चरण में आलोचना का कार्य उत्कृष्ट था। पन्त, नरेन्द्र शर्मा और शिवदान सिंह चौहान का सर्वश्रेष्ठ लेखन-काल यही था। दूसरे चरण में

आलोचना का कार्य अपेक्षाकृत कम हुआ, यह काल 'सुमन', रागेय राघव, राहुल, भगवतशरण उपाध्याय और यशपाल का रचना-काल है, जब रचनात्मक साहित्य ही हमारी विशेष देन थी।

१६४७-४६ तक का काल प्रगतिशील आंदोलन के संकुचित होने का है। इस दौर में हमने आलोचना के भ्रम मे अपने साथियों और मित्रो पर तीव्र आघात किये और आन्दोलन के पूर्व इतिहास के प्रति भी संकुचित दृष्टि अपनायी। हमारे इस व्यवहार के कारण आन्दोलन क्षीण हुआ और अपने अन्दर सिमटता ही गया। यह काल सभी अर्थ मे आन्दोलन के पीछे हटने का काल है। जो साहित्य इस दौर में रचा गया, उसमे भी गहराई कम थी और अकसर यह केवल आवेश का साहित्य था। इस काल मे 'सुमन' आदि दूसरे दौर के लोग मौन रहे, जिन लेखकों की वाणी मे हमे बल और ओज मिला, उनमें नागार्जुन और केदार प्रमुख थे। इसी प्रकार आलोचना में भी नवोदित शक्तियो में चन्द्रबली सिंह और आदित्य मिश्र की प्रतिभा ध्यान आकर्षित करती थी।

सन् १६४८ के बाद यह प्रगतिशील आदोलन के इतिहास का वर्तमान दौर है। इस दौर में प्रगतिशील आन्दोलन फिर एक बार स्वस्थ, जनवादी लेखको से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर रहा है। जितनी तेजी इसके लिए अपेक्षित थी, वह प्रगतिशील आन्दोलन में अभी तक नहीं आ सकी है। इसका कारण यह है कि आन्दोलन अभी तक पूर्वकाल की एकता नहीं स्थापित कर सका है। किन्तु फिर भी प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन का भविष्य बहुत उज्जवल है, क्योंकि सभी बाह्य परिस्थितियाँ हमारे पक्ष में हैं, जो अन्तर्परिस्थितियाँ हमारे मार्ग में रुकावट डाल रही हैं, उन्हें शीघ्र से शीघ्र दूर करना होगा।

साहित्य में संयुक्त मोर्चा

हमें देश के सभी स्वस्थ और जनवादी लेखकों को अपने व्यापक सयुक्त मोर्चे मे लाना है। जो लेखक इस मोर्चे में आएँगे, उनकी सख्या अगणित

है। भारत के समान अर्द्ध-उपनिवेश और अर्द्ध-सामन्ती देश में बुद्धिजीवी वर्ग शोषित वर्ग है 'और वर्ग के रूप में आज की परिस्थिति में उसकी प्रगतिशील भूमिका है। जो लेखक शासक वर्ग से जा मिलते हैं, वे अपवाद के रूप में हैं। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि शासक वर्ग का प्रभाव साहित्य के क्षेत्र में नगण्य है। अनेक लेखकों को जीवन-संघर्ष से त्रस्त हो कर शासन तंत्र में मिलना पड़ता है, किन्तु मन से वह हमारे साथ हैं। इसके एक ज्वलन्त उदाहरण जोश मलिहाबादी हैं। हमारे अनेक मित्र लेखकों के मन में शासक वर्ग के प्रति अनेक भ्रम भी हैं, जो क्रमशः दूर होते जायँगे और दूर हो भी रहे हैं। प्रेस, रेडियो और प्रचार के सभी साधनों द्वारा शासक-वर्ग लेखकों के विचार-दर्शन पर तरह-तरह के प्रभाव डालता है, जिससे उनकी स्वस्थ, जनवादी दृष्टि धुँधली पड़ती है, किन्तु यह धुंध अधिक नहीं टहर सकता। ऐसे लेखक कम ही होंगे, जो सचेत रूप से शासक-वर्ग के हित-साधन में तन-मन से लीन हो जायँ। शासक-वर्ग के पास बहुत साधन और प्रलोभन हैं, किन्तु यह लेखक की सामाजिक हित की आकांक्षा को अधिक दूर तक हिलाने मे असमर्थ हैं।

आज हिन्दी के अधिकांश लेखकों को हम शोषण और सामाजिक दासता के विरुद्ध संघर्ष के विशाल संयुक्त मोर्चे में ला सकते हैं। जैसा को-मो-जो ने अपने निबन्ध में लिखा है, "हमारे विराट संयुक्त मोर्चे में अनेक वर्गों के लेखक आयेंगे और सब अपनी-अपनी विचार-धारा अपने साथ लायेंगे। साहित्य और कला के सम्बन्ध में हम में परस्पर अनेक मतभेद होंगे, इन मतभेदों को सहन करना चाहिए। हमारे भिन्न मतों में एक लम्बी मित्रतापूर्ण होड़ होगी। आवश्यक यह है कि सभी लेखकों को जनवाद, शांति और स्वाधीनता के विशाल मोर्चे में हम एकत्रित करें। कला और साहित्य-संबंधी प्रश्नों पर हमारी मित्रतापूर्ण आलोचना-प्रत्यालोचना चलती रहेगी।"

हम लेखकों के इस विराट संयुक्त मोर्चे को एक ही केन्द्र से फैलते हुए वृत्तों के रूप में देख सकते हैं। शांति और जन-हित के सबसे व्यापक

हम अपने अधिकाश लेखकों को ला सकते हैं। इसमे लगभग सभी चोटी के लेखक भी आ जायँगे।

सयुक्त मोर्चे का एक अन्तर्वृत्त उन लेखको का होगा, जो एक बेहतर समाज व्यवस्था की कल्पना करते हैं। उनकी मानवता सामाजिक न्याय और समता की भावना को स्वीकार करती है, यद्यपि उनके चिन्तन मे अनेक ऐसे तार लिपटे हुए हैं, जिन्हें वैज्ञानिक दृष्टि स्वीकार करने में असमर्थ होगी। इस वृत्त में हम हिन्दी के बहुसख्यक लेखको को पायेंगे।

सयुक्त मोर्चे के और भी अन्दर के वृत्त में हम उन लेखकों को पायेंगे, जो समाजवाद का ध्येय स्वीकार करते हैं। इस वृत्त मे हिन्दी के अनेक प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध प्रगतिशील लेखकों को हम पायेंगे। अनेक नये लेखक भी बड़े वेग से इस वृत्त में आ रहे हैं।

परिशिष्ट १

हिन्दी का आदि-काव्य

१

हिन्दी साहित्य का इतिहास लगभग एक हजार वर्ष का काल अपने डगो में भरता है। इस साहित्य की लम्बी जनवादी परम्परा है, किन्तु अभी तक उसका वैज्ञानिक दृष्टि से समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ। प० रामचन्द्र शुक्ल अपने इतिहास के आरम्भ मे स्वीकार करते हैं कि "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का सचित प्रतिबिम्ब होता है" और "जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।"* हमें अपने साहित्य के इतिहास मे अपने देश की "चित्तवृत्तियों" के विकास और परिवर्तन की कथा खोजनी है और उसके सूत्र सुलझाने हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को विद्वान अधिकतर चार काल-खण्डों में बाँटते हैं। यह काल-विभाजन इस प्रकार है :—

१. आदि काल, लगभग ८०० ई० से १३०० ई० तक;
२. भक्ति काल; " १३०० ई० से १६५० ई० तक;
३. रीति काल; " १६५० ई० से १८५० ई० तक;
४. आधुनिक काल; १८५० ई० से अब तक।

पहले तीन काल-खण्डों में भारतीय समाज-व्यवस्था मे कोई बुनियादी क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ; यद्यपि इस लम्बे, अप्रत्याशित विस्तार से परिपूर्ण सामन्ती मध्य युग में बहुत उथल-पुथल हुई, अनेक तूफ़ान आये,

---

* "इतिहास" पृष्ठ १

अनेक बार धरती कँपी, और सामन्ती इमारत हिली, टूटी और फिर बनी, फिर भी उसकी आधार-शिला यथास्थान क़ायम रही। इस मध्य-युगीन भारतीय समाज में, जिसे अनेक बार उत्तर-पश्चिम द्वार से आने वाले आक्रमणकारियों ने झकझोरा, उन्नीसवा सदी के मध्य तक कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं हुआ।

इस सबंध में मार्क्स का मत काफी स्पष्ट है। अपने भारत-सबधी लेखों में मार्क्स कहते हैं —सभी गृह-युद्ध, आक्रमण, क्रान्तियाँ, विजय-अभियान, अकाल सतह से नीचे नहीं गये, हिन्दुस्तान मे उनका लगातार प्रभाव चाहे जितना विचित्र रूप से सश्लिष्ट, तीव्र और विनाशकारी क्यों न मालूम होता हो। पुनर्निर्माण के बिना कोई चिह्न प्रकट किये इगलैण्ड ने भारतीय समाज का सपूर्ण ढाँचा तोड़ दिया है।*

मार्क्स के अनुसार ब्रिटिश शासन ने भारत में एक "सामाजिक क्रान्ति" ला दी, यद्यपि इस प्रक्रिया में वह "इतिहास का अचेतन अस्त्र" था। मार्क्स भारत की पुरानी सामाजिक व्यवस्था को सामन्ती व्यवस्था नहीं कहते, वह इसे "एशियाई" समाज-व्यवस्था कहते हैं। यूरोप की सामन्ती व्यवस्था में भूमि सामन्तों की सम्पत्ति थी। भारत में भूमि पूरे ग्राम-समाज की सामूहिक सपत्ति थी। भारत की अपरिवर्त्तनशीलता का रहस्य ग्राम-समाज का यही सामूहिक और स्वावलम्बी जीवन था। समाज के ऊपरी स्तरों में सामन्तों के गृह-युद्ध थे, उत्तर-पश्चिम के खुले द्वार से आक्रमणकारियों के धावे थे, शासन और राजनीति में उथल-पुथल और परिवर्त्तन थे, लेकिन ग्राम-समाज इनके प्रति उदासीन और निर्विकार हो गया था, क्योंकि उसके पास इन विपत्तियों का कोई प्रतिशोध नहीं था। "कोउ नृप होउ, हमहिं का हानी"—मथरा के यह शब्द मानों भारतीय जन-समाज की असहाय वाणी को व्यक्त करते हैं।

हिन्दी का साहित्य अपभ्रश से जन्म लेता है। सातवीं-आठवीं शताब्दी के लगभग सरहपा और स्वयभू अपभ्रश में काव्य-रचना कर रहे थे। इन्हें

* "भारत में ब्रिटिश शासन"

हिन्दी के पहले कवि भी कहा गया है, क्योंकि इनकी भाषा हिन्दी से काफ़ी मिलती-जुलती है। यदि इनकी काव्य-भाषा को हिन्दी कहने मे किसी को सकोच हो, तो इसे हिन्दी की जननी तो अवश्य ही कह सकते हैं। वैसे प० रामचन्द्र शुक्ल और महापडित राहुल साकृत्यायन के समान विद्वानों ने सिद्ध साहित्य और जैन-साहित्य को हिन्दी साहित्य के इतिहास मे सम्मिलित किया है।

सातवीं-आठवीं सदी तक भारतीय समाज में केन्द्रीय शासन-व्यवस्था टूटने लगी थी। अनेक शासक अलग-अलग स्वतत्र सत्ता के झडे ऊँचे कर रहे थे और आधिपत्य के लिए आपस में जूझने लगे थे। इनमें प्रमुख थे—कन्नौज, दिल्ली और अजमेर के राज्य उत्तर में, पाल वश बगाल में और राष्ट्रकूट वश दक्षिण में। जब भारत के सामन्त इस आत्मघाती सघर्ष में पड़ कर निर्बल हो रहे थे, उत्तर-पश्चिम के दर्रों से अनेक आक्रमणकारी भारत के धन से आकर्षित होकर निरन्तर हमले कर रहे थे। भारतीय सस्कृति ने पूर्व काल में अनेक ऊँची उड़ानें ली थीं। साहित्य, कला, दर्शन, ज्ञान और विज्ञान में भारतवर्ष ने अक्षय रत्न-राशि सचित की थी। इस देश का शासक वर्ग सस्कृति के उपादानो का अभूतपूर्व विकास कर सका था। किन्तु मध्य युग के आरम्भ होने तक पूर्व पुरुषों की यह अमूल्य विरासत लुटने लगी थी।

मध्य युग मे, जिसे हम ७वीं-८वीं शताब्दी से शुरू कर सकते हैं, हमे कविता में दो धाराएँ मिलती हैं, एक सिद्धो और सन्तों द्वारा प्रवाहित काव्य-धारा और दूसरी राजदरबारों मे आश्रय पाने वाले चारणों और कवियों की। अपभ्रश काल के सिद्ध कवि और योगी जीवन से वैराग्य लेने का प्रयास करते हैं, किन्तु इसमें असफल होकर सहज-यान का पथ खोजते हैं। यह कवि धर्म के बाह्य आडम्बर और पाखड का भण्डाफोड़ करते हैं और उसका तिरस्कार करते हैं। इनमें से अधिकतर कवि शोषित वर्गों और निम्न जातियों से आये थे और इनके मन अवज्ञा और विद्रोह की भावना से भरे हुए थे। कबीर, रैदास, दादू, नानक आदि कवियो की वाणी मे निरन्तर हम सिद्ध

कवियों के स्वर की प्रतिध्वनियाँ सुन सकते हैं । प० रामचन्द्र शुक्ल अपने इतिहास में लिखते हैं :—'यहाँ पर यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि ८४ सिद्धों में बहुत से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दर्जी तथा और बहुत से शूद्र कहे जाने वाले लोग थे । अतः जाति-पाँति के खंडन तो वे आप ही थे । नाथ-सम्प्रदाय भी जब फैला तब उसमें भी जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियों के बहुत से लोग आये जो शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न न थे ।" *

दूसरी धारा शासक वर्ग के कवियों की थी, जो उपर्युक्त धारा के समानान्तर ही बह रही थी । सिद्ध कवि, नाथ पंथी कवि और सन्त कवि—एक ओर तो जनता की वाणी को साहित्य में मुखरित करने वाले कवियों की अक्षुण्ण परम्परा थी, दूसरी ओर दरबारी कवियों की काव्य-धारा थी, जिसका विषय सामन्तों के कलह, द्वेष, प्रेम और संघर्षों की कहानी थी । शुक्ल जी के शब्दों में इन चारण-कवियों की रचना का विषय "आश्रयदाता राजाओं की वीरता और पराक्रम का वर्णन" था । जिस प्रकार सिद्ध काव्य सन्त कवियों की परम्परा में मिला, उसी प्रकार चारण-कवियों की काव्य-धारा रीतिकालीन दरबारी कवियों की धारा में जा मिलती है । अन्तर इतना अवश्य है कि सिद्ध-कवियों से सन्त-कवियों तक हिन्दी काव्य-परम्परा का अद्भुत् विकास हुआ, लेकिन इसके विपरीत सामन्ती व्यवस्था के उत्तरोत्तर बढ़ते और गहरे होते हुए संकट के कारण जहाँ आदि काल के चारण कवियों की दृष्टि प्रेम और प्रकृति आदि विषयों पर बहुत कुछ स्वस्थ और सजीव है, रीतिकालीन कवियों की रचना में वह अधिकाधिक अस्वस्थ और मलिन होती गई है ।

२

सिद्ध कवियों का काल राहुल जी के अनुसार ८०० ई० से १२०० ई० तक है । शुक्ल जी इसको और भी पहले रखते हैं । सिद्ध कवियों में सबसे पहले सरहपा अथवा सरोजवज्र थे । इन्होंने जनता तक अपनी शिक्षा पहुँचाने

* पृष्ठ १७

के लिए जनता की ही भाषा में लिखना शुरू किया। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार सिद्ध कवि "जनता की भाषा का प्रयोग करते थे।"[1] यह भाषा अपभ्रंश-मिश्रित "देशभाषा" थी।

सिद्ध कवियों ने धर्म और नीति से सबंधित दोहे लिखे। उनमें से अनेक वाम-मार्गी भी थे। प० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा"।[2] रहस्यवाद, योग-साधना, आध्यात्म आदि से अलग सिद्ध कवियों के साहित्य में अनेक जन-वादी तत्व भी मुखर हुए थे। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार सिद्धों ने जीवन को "कर्म-काण्डो के जाल से मुक्त कर 'सहज रूप' दिया था।"[3] इस सिलसिले में राहुल जी लिखते हैं :—

"सिद्ध लोगों ने उस समय लोक भाषा में कविता शुरू की, जिस समय शताब्दियों से भारत के सभी धर्म वाले किसी न किसी मुर्दा भाषा द्वारा अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे और इसी कारण उनके धर्म के जानने वाले बहुत थोड़े हुआ करते थे। सिद्धों के ऐसा करने के कारण वह धर्म, आचार, दर्शन आदि सभी विषयों में एक क्रान्तिकारी विचार रखते थे"।[4]

सरहपा ब्राह्मणों के प्रति कहते हैं:—

"ब्राह्मणहिं ना जानन्ता भेद। यो ही पढेउ ये चारों वेद ॥
माटि पानि कुश लिए पढन्त। घर ही बइठी अग्नि होमन्त ॥
एकदण्डि त्रिदण्डी भगवा वैसे। ना होइहि बिनु हँस-उपदेशे ॥
आचरयेहिं लपेटी छारा। सीसहिं दोअत ये जट-मारा ॥
यदि नगाए होइ मुक्ति, तो शुनक-शृगालहुं।
लोम उपाटे होइ सिद्धि, तो युवति-नितम्बहुँ ॥

[1] डा० रामकुमार वर्मा, 'इतिहास', पृष्ठ ७७
[2] प० रामचन्द्र शुक्ल, "इतिहास", पृष्ठ ७
[3] डा० रामकुमार वर्मा, "इतिहास", पृष्ठ १४३
[4] राहुल साकृत्यायन, "पुरातत्व निबंधावली," पृष्ठ १६०

पिच्छि गहे देखेउ जो मोक्ष, तो मोरहु चमरहुँ ।
उञ्छ-भोजने होइ ज्ञान, तो करिहु तुरगहुँ ॥"[1]

सिद्ध कवि शरीर को उपेक्षा से नहीं देखते थे। सरहपा ने तो देह की तीर्थ से उपमा दी है :—

"एहि सो सुरसरि जमुना, एहिं सो गगासागर ।
एहि प्रयाग वाराणसी, एहि सो चन्द्र-दिवाकर ॥
क्षेत्र-पीठ-उपपीठ, एहां मैं भ्रमउँ वाहिरा ।
देहा सदृशा तीर्थ, नहीं मे अन्यहिं देखा ॥"[2]

एक अन्य कवि तिलोपा कहते हैं कि तीर्थ आदि की सेवा वेकार है —

"तीर्थ तपोवन न करहु सेवा । देह शुची न होवै पापा ॥
देव न पूजहु तीर्थ न जावा । देव पूजतें मोक्ष न पावा ॥[3]

सिद्धों में कहीं-कहीं तो स्त्री और मद्य का प्रेम दुराचार की मात्रा तक पहुँच चुका था। यह दृष्टि मूलत वही थी जिसने खजराहो आदि मन्दिरों की दीवारो पर कामुकतापूर्ण खुदाई की थी ।

सिद्धो की परम्परा नाथ-पथी कवियों में भी हम पाते हैं। योग और आध्यात्मवाद की शिक्षा के साथ ही साथ यह कवि-जीवन के प्रति "सहज" और स्वाभाविक दृष्टि रखने का भी उपदेश देते हैं। जीवन से विमुख होना अनुचित है, किन्तु उसमें पूर्णतय. अपने को खो देना भी उचित नहीं है। मनोविकारो पर सयम और अनुशासन की शिक्षा यह कवि देते हैं, साथ ही धार्मिक पाखडों और मिथ्याचार पर भी वे तीव्र आघात करते हैं।

गोरखनाथ कहते हैं :—

"हबकि न बोलिबा ठबकि न चालिबा धीरै धोखा पाँव ।
गरब न करिबा सहजै रहिबा भणत गोरषराव ॥

---

[1] राहुल जो का हिन्दी रूपान्तर, "काव्य धारा", पृष्ठ ४-५
[2] ,, ,, पृष्ठ ८-६
[3] ,, ,, ,, १७४-५

गिरही सो जो गिरहै काया । अभि-अंतर की त्यागै माया ।
सहज-सील का धरै सरीर । सो गिरही गगा का नीर ॥"[1]

गोरखनाथ के अनुसार सच्चा योगी राजा और प्रजा सभी को समान दृष्टि से देखता है :

"निसपती जोगी जानिबा कैसा । अगनी पाणी लोहा मानै जैसा ।
राजा-परजा सम करि देष । तब जानिबा जोगी निसपति का भेष ॥"[2]

सिद्ध कवियों की शिक्षा का साराश राहुल जी इस प्रकार बताते हैं :—

"उनकी कविता मे रहस्यवाद है मगर निराशावाद उससे छू नहीं गया है । वह काया को मल-मूत्र-पूर्ण गन्दी चीज़ नहीं बल्कि तीर्थ की तरह पवित्र मानते हैं, सब तरह के सासारिक भोगों को छोड़ने की नहीं ग्रहण करने की शिक्षा देते हैं । शायद इसमें उनका क्षणिकवादी दर्शन कारण रहा हो । ससार की सभी वस्तुएँ क्षण-क्षण बदलती रहती हैं, उनमें सयोग-वियोग होता रहता है, लेकिन जगत् की सारभूत यह क्षणिकता बुरी नहीं है, इसी से जगत् का वैचित्र्य, जगत् का सौन्दर्य कायम है । अतएव क्षणिक होने से जगत् उपेक्षणीय नहीं है ।"[3]

सिद्ध कवियों के साथ ही अनेक जैन आचार्य भी काव्य-रचना कर रहे थे । इनमें हमें स्वयभू और पुष्पदन्त के समान ख्यातनामा कवि मिलते हैं । स्वयंभू और पुष्पदन्त की रचनाओं में हमे शृगार और वीर रस की कविता मिलती है । डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार सिद्ध काव्य का ध्येय "महासुख" "शान्ति" और "आनन्द" था ।[4] स्वयभू और पुष्पदन्त हिन्दी के पहले श्रेष्ठ नागरिक कवि हैं । उनके साहित्य में हमें सपूर्ण जीवन का स्वस्थ, सजीव और सर्वांगीण अकन मिलता है । राहुल जी लिखते हैं:—"स्वयभू और पुष्पदन्त ने सामन्त जीवन के इन दोनो पहलुओं—भोग भोगना और

---

[1] हिन्दी काव्य धारा, पृष्ठ १५७
[2] ,, ,, ,, १६३
[3] ,, भूमिका ,, २६
[4] "इतिहास", ,, ६३

मृत्यु को तृणवत समझना—का सुन्दर चित्रण किया है, इतना सुन्दर चित्रण पीछे के काव्यों में हमें नहीं मिलता।"[1]

स्वयभू को राहुल जी हिन्दी का पहला महाकवि कहते हैं। इनका काल ७६० ई० कहा गया है। स्वयभू ने हिन्दी मे पहली रामायण लिखी, साथ ही उन्होंने कविता में "हरिवश पुराण" की रचना भी की। स्वयभू की विनय हमें तुलसीदास का स्मरण दिलाती है.—

"बुध-जन स्वयभू तोहि वीनवई। मोहि सरिसउ अन्य नाहि कुकवी ॥
व्याकरण किछू न जानियऊ। ना वृत्ति-सूत्र बक्खानियऊ ॥
ना सुनेउँ पाँच महान काव्य। ना भरत न लक्षण छन्द सर्व ॥
ना बूझेउँ पिंगल - प्रस्तारा। ना भामह दडि अलकारा ॥"[2]

तुलसीदास के समान स्वयभू ने भी अपने काल की प्रचलित "सामान्य" भाषा में काव्य-रचना की थी, ताकि सर्वसाधारण में उसका आसानी से प्रचार हो सके। इस सबध में स्वयभू लिखते हैं :—

"सामान्य भाष यदि ना गढऊँ। यदि आगम-युक्ति किछू गढऊँ ॥
यदि होई सुभाषित वचनाई। ग्रामीण-भाष-परिहरणाई ॥"[3]

स्वयभू के रामायण में प्रकृति के अनेक सुन्दर वर्णन हैं। सीता के रूप का कवि ने स्वस्थ, मासल दृष्टि से वर्णन किया है। इस मामले में वह तुलसी की अपेक्षा वाल्मीकि के अधिक समीप हैं। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार "स्वयभू विलाप और युद्ध लिखने में विशेष पटु हैं।"[4]

बसन्त का बड़ा हृदयहारी वर्णन स्वयभू करते है .

"कुव्वर नगर पहूँचेउ जब्बहिं। फागुन-मास प्रवोलेउ तब्बहिं ॥
पइसु वसत-राव आनन्दे। कोइल-कलकल मगल-शब्दे ॥

---

[1] काव्य-धारा, भूमिका, पृष्ठ ४६

[2] ,, ,, राहुल का रूपान्तर, पृष्ठ २३

[3] ,, ,, ,, २५

[4] "इतिहास", पृष्ठ १०५

अलि मिथुनेहिं वदीहिं पढन्तेहिं । वर्हिन वामनेहिं नाचतेहि ।
अन्दोलित-शत-तोरण वारेहिं । ढुक्कु वसंत अनेक प्रकारहिं ॥"[1]

स्वयभू काया के अनेक दुःखों का भी बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन करते हैं और सामाजिक भेद-भावों के विरुद्ध अपना स्वर उठाते हैं। आश्चर्य की बात है कि स्वयम्भू के समान महाकवि, जो पग-पग पर हमें तुलसीदास का स्मरण दिलाते हैं, इस प्रकार समय के खँडहरों के अन्दर दबे पड़े रहे। इस सबध में राहुल जी लिखते हैं :—

"... जितने कवियो को हमने यहाँ सग्रहीत किया है, उनमें यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि स्वयभू सबसे बड़ा कवि था। वस्तुतः वह भारत के एक दर्जन अमर कवियो में से एक था। आश्चर्य और क्रोध दोनो होता है कि लोगों ने कैसे ऐसे महान् कवि को भुला देना चाहा। स्वयभू के रामायण और महाभारत (या कृष्ण-चरित्र) दोनो ही विशाल-काव्य हैं।"[2]

जैन कवियों में पुष्पदन्त भी बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। राहुल जी के अनुसार इनका काल ९६०-७० ई० के लगभग था। इनकी रचनाएँ "महापुराण", "यशोधर चरित" और "नागकुमार चरित" हैं। पुष्पदन्त ने अपने को "अभिमान मेरु" कहा है। पुष्पदन्त के आत्म-अभिमान की द्योतक यह उपाधि है। इसी के अनुरूप उनके काव्य में जनवादी तत्व बहुत उभर कर आये हैं। पुष्पदन्त कहते हैं, "दुर्जनो की वकिम भौंह देखना उचित नहीं, चाहे गिरि कन्दराओं में घास खाकर भले ही रह जाय। माँ के कुक्ष से उत्पन्न होते ही मर जाना ठीक है, किन्तु राजा के टेढ़ी भृकुटि के नेत्र देखना और उसके दुर्वचन सुनना उचित नहीं।"[3]

पुष्पदन्त मनुष्य-शरीर के दुःखो का वर्णन बड़े मार्मिक शब्दों में करते हैं :—

---

[1] 'काव्य-धारा', पृष्ठ ३१

[2] काव्य-धारा, भूमिका, पृष्ठ ५०

[3] डा० रामकुमार वर्मा, इतिहास, पृष्ठ ११२

"मानुष-शरीर दुख-पोट्टलऊ। धोयो धोयो अति विट्टलऊ॥
वासेउ वासेउ ना सुरभि मलू। पोसेउ पोसेउ ना धरै बलू॥
बोलेउ बोलेउ दु:खावनऊ। चर्चेउ चर्चेउ घिरियावनऊ॥"[१]

राजत्व के दुर्गुणों का परिचय कवि ने स्पष्ट शब्दों में कराया है:

"राज्यहि कारणे पितु मारिज्जे। आथर्वहि (मुनि) संचारिज्जै॥
जिमि अलि-गधे गउ सुहारा। तिमि राज्येहि जीवितऊँ वारा॥
जारहु राज्यहु दु:ख-गुम्फउ। यदी सुक्ख का तेहीं मूकउ॥"[२]

पुष्पदन्त अपनी मातृभूमि उत्तर-कुरु की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से करते हैं और उसकी तुलना स्वर्ग से करते हैं। यह यौधेय गण-तन्त्र की प्रशंसा है, जहाँ गरीब-अमीर का भेद-भाव नहीं है, इसे राहुल जी "साम्यवादी उत्तर कुरु द्वीप" की उपाधि से विभूषित करते हैं:—

"न दुर्जन-दूषित सज्जन-वास। न खास न रोष न शेष न दोष।
न रोग न शोक न सेतु विषाद। किलेश न दास न कोउहु राज।
सुरूप सुलक्षण मान दिव्य। अगर्व सुभव्य समानहिं सर्व।
न चोर न मार न घोर उपसर्ग। अहो कुरुभूमि निसशय स्वर्ग॥"[३]

राहुल जी के शब्दों में कहें कि पुष्पदन्त ने "सामन्तों की संक्षिप्त किन्तु अति कठोर आलोचना की है। कुछ ही शताब्दियों पहले अपनी प्रजातन्त्रीय स्वतन्त्रता से वञ्चित मगर अब भी जब-तब लड़ती रहने वाली यौधेय की भूमि का इतना आकर्षक वर्णन और अन्त में उत्तर-कुरु की धनी-गरीब-रहित दास-राजा-शून्य दिव्य मानव वाली भूमि की भारी तारीफ़ बतलाती है कि पुष्पदन्त का व्यक्तित्व किसी दूसरी ही तरह का था, जिसके लिए उस काल की परिस्थिति अनुकूल नहीं थी।"[४]

---

[१] काव्य-धारा, पृष्ठ २३५
[२] ,, ,, ,, १६५
[३] काव्य-धारा, पृष्ठ २३६
[४] ,, भूमिका, पृष्ठ ५३

जैन कवियों में अनेक थोथे धर्म और पाखंड की निन्दा कबीर के समान तीखे शब्दों में करते हैं। मुनि रामसिंह जैन कहते हैं :—

"पडिय पडिय पंडिया कणु छडिवि तुस कंडिया।
अत्थे गत्थे तुट्टो सि परमत्थु ण जाणहि मूढ़ो सि ॥

(हे पडितों में श्रेष्ठ पंडित ! तूने कण को छोड कर तुष को कूटा है। तू ग्रथ और उसके अर्थ से संतुष्ट है, किन्तु परमार्थ को नहीं जानता। इसलिए तू मूर्ख है।)

"मुंडिय मुडिय मुंडिया सिरु मुंडिउ चित्त ण मुंडिया।
चित्तहं मुडणु जि कियउ। संसारह खडणु तिं कियउ ॥

(हे मूँड़ मुडाने वालों में श्रेष्ठ मुंडी ! तूने सिर को तो मुँडाया किन्तु चित्त को न मूँड़ा। जिसने चित्त का मुंडन कर डाला, उसने ससार का खंडन किया।)" [१]

जैन कवियों में दरबारी कवि भी हैं, जो अपने साहित्य में सामन्ती आदर्शों की प्रतिष्ठा करते हैं। इनकी रचनाओं में हमें सामन्तों के युद्धों और सघर्षों की प्रतिध्वनि मिलती है, सामन्तों के प्रेम-संबधों का परिचय मिलता है और सामन्ती प्रेम से उत्पीड़ित नारी की भावनाओं का चित्रण भी मिलता है। यही धारा आगे चल कर चारण-काल की कविता में विकसित होती है।

हेमचन्द्र को शुक्ल जी "अपने समय के सबसे प्रसिद्ध जैन आचार्य" [२] कहते हैं। इनका समय बारहवीं सदी था। इनके बृहद् व्याकरण-ग्रन्थ "सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन" में सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों सम्मिलित हैं। हेमचन्द्र के उद्धरणों में हमें तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था और सामाजिक सबधों का स्पष्ट और सजीव चित्र मिलता है। पति युद्ध में मारा गया है, पत्नी कहती है कि वह मारा गया, यह अच्छा ही हुआ ! यदि वह भाग कर घर आता, तो मुझे लज्जित होना पड़ता :

---

[१] डा० वर्मा, इतिहास, पृष्ठ ११८

[२] इतिहास, पृष्ठ २१

"भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु ।
लज्जेज तु वयसिअहु जइ भग्गा घर एंतु ॥"

इस दोहे मे सामन्ती वीरता का आदर्श हमे मिलता है। इसी प्रकार सामन्ती प्रेम के उदाहरण और आदर्श भी हमे इन पदों में मिलते हैं। प्रिय प्रवास मे है, उसकी निर्दिष्ट हुई अवधि बीत गई है। जो अवधि उसने दी थी, उसे नाख़ूनों से गिनते-गिनते प्रेयसी की उँगलियाँ क्षत-विक्षत हो गई हैं .—

"जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पवसंतेण ।
ताण गण तिए अंगलिउँ जज्जरियाउ नहेण ॥"

सामन्त का दूती से प्रेम हो गया है। वह घर नहीं लौटा, तो दूती भी उदास है। उसकी स्वामिनी कहती है, ऐसा व्यक्ति मेरा प्रिय नहीं है.—

"जइ सो न आवइ, दूइ ! घरु, काइँ अहोमुहु तुज्झु ।
वयणु ज खंढइ तउ, सहिए ! सो पिउ होइ न मुज्झु ॥"[1]

यही दृष्टि हमें मध्यकालीन यूरोपीय सामन्ती कविता में भी मिलती है। सामन्त विदेश चला गया है, अनेक वर्ष उसे दूर देशों में युद्ध करते हो गए हैं। उसके विरह में उसकी प्रेयसी तड़पती रहती है। कभी-कभी उसका प्रेम किसी और सरदार से हो जाता है। युद्ध और प्रेम की इन्हीं कथाओं को 'रोमान्स' कहा जाता था।

कुछ पुराने अपभ्रंश के दोहे जो शुक्ल जी ने अपने इतिहास में उद्धृत किये हैं, युद्ध और प्रेम-लीलाओं के प्रति यही दृष्टि प्रकट करते हैं .—

"एउ जम्मु निग्गुह गिउ, भड़सिरि खग्गु न भग्गु ।
तिक्खाँ तुरियँ न माणियाँ, गोरी गली न लग्गु ॥

(यह जन्म व्यर्थ गया। न सुभटों के सिर पर खड्ग टूटा, न तेज़ घोड़े सजाए, न गोरी या सुन्दरी के गले लगा।)"[2]

---

[1] शुक्ल जी, इतिहास, पृष्ठ २१-२
[2] ,, ,, पृष्ठ २४

३

इस प्रकार हम चारण-काल अथवा वीर-गाथा काल के साहित्य तक आ जाते हैं। इस काल के प्रमुख कवि नरपति नाल्ह, चद और जगनिक तीनो ही "सदिग्ध" कवि हैं। शुक्ल जी ने इस काव्य को "देशभाषा काव्य" कहा है, क्योंकि सिद्ध और जैन कवियों की रचनाएँ "अपभ्रंश-मिश्रित" बोलचाल की भाषा में लिखी गई थीं। कुछ विद्वान अपभ्रंश के इस मिश्रण के कारण उक्त कवियों को हिन्दी के कवि न मानकर अपभ्रंश के कवि मानते हैं। इसके विरुद्ध राहुल जी ने इन्हे हिन्दी के आदि-कवियों के रूप में ही स्वीकार किया है। अपभ्रंश और देशभाषा का काव्य वास्तव में एक ही धारा है और अपभ्रंश-मिश्रित काव्य हमें हिन्दी साहित्य के मूल स्रोत तक पहुँचा देता है। यदि कुछ विद्वान अपभ्रंश-काव्य को केवल हिन्दी काव्य की पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार करें, तो इससे कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

वीर-गाथा काव्य का काल शुक्ल जी के अनुसार सवत् १०५० से सवत् १३७५ तक है। इस समय देश में केन्द्रीय व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी, सामन्तों में परस्पर निरन्तर युद्ध हो रहे थे और बाहर से देश में आक्रमण-कारियों के टीड़ी दल लगातार आ रहे थे। काश्मीर, कन्नौज, मालवा, ग्वालियर, दिल्ली और अजमेर के शासक गृह-युद्ध की अग्नि में होम हो रहे थे और भारत के मठों, मन्दिरों और रजवाड़ों में सचित, अनन्त धन-राशि आक्रमणकारियों को आकर्षित कर रही थी।

मठों और मन्दिरों की सम्पत्ति के सबध में राहुल "हिन्दी काव्य-धारा" की भूमिका में लिखते हैं :—

"राजा अपने और अपने लग्गू-भग्गुओं पर कितनी सम्पत्ति स्वाहा करते थे, इसका थोड़ा सा अन्दाजा ऊपर के वर्णन से लग गया होगा। लेकिन समृद्ध भारत की सम्पत्ति के अपव्यय का लेखा इतने ही से समाप्त नहीं होता। पुरोहित और महथ लोगों का भी ख़र्च राजसी ठाट के साथ होता था। उनके पास भी महल, दास, कमकर थे और उसी के अनुकूल उनका ख़र्च भी था।

"भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु ।
लज्जेज तु वयसिअहु जइ भग्गा घर एंतु ॥"

इस दोहे में सामन्ती वीरता का आदर्श हमें मिलता है। इसी प्रकार सामन्ती प्रेम के उदाहरण और आदर्श भी हमें इन पदों में मिलते हैं। प्रिय प्रवास में है, उसकी निर्दिष्ट हुई अवधि बीत गई है। जो अवधि उसने दी थी, उसे नाख़ूनों से गिनते-गिनते प्रेयसी की उँगलियाँ क्षत-विक्षत हो गई हैं।—

"जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिए अंगुलिउँ जज्जरियाउ नहेण ॥"

सामन्त का दूती से प्रेम हो गया है। वह घर नहीं लौटा, तो दूती भी उदास है। उसकी स्वामिनी कहती है, ऐसा व्यक्ति मेरा प्रिय नहीं है।—

"जइ सो न आवइ, दूइ ! घरु, काइँ अहोमुहु तुज्झु ।
वयणु ज खंढइ तउ, सहिए ! सो पिउ होइ न मुज्झु ॥"[1]

यही दृष्टि हमें मध्यकालीन यूरोपीय सामन्ती कविता में भी मिलती है। सामन्त विदेश चला गया है, अनेक वर्ष उसे दूर देशों में युद्ध करते हो गए हैं। उसके विरह में उसकी प्रेयसी तड़पती रहती है। कभी-कभी उसका प्रेम किसी और सरदार से हो जाता है। युद्ध और प्रेम की इन्हीं कथाओं को 'रोमान्स' कहा जाता था।

कुछ पुराने अपभ्रंश के दोहे जो शुक्ल जी ने अपने इतिहास में उद्धृत किये हैं, युद्ध और प्रेम-लीलाओं के प्रति यही दृष्टि प्रकट करते हैं —

"एउ जम्मु निग्गुह गिउ, भड़सिरि खग्गु न भग्गु ।
तिक्खाँ तुरियँ न माणियाँ, गोरी गली न लग्गु ॥

(यह जन्म व्यर्थ गया। न सुभटों के सिर पर खड्ग टूटा, न तेज़ घोड़े सजाए, न गोरी या सुन्दरी के गले लगा।)"[2]

---

[1] शुक्ल जी, इतिहास, पृष्ठ २१-२
[2] ,, ,, पृष्ठ २४

३

इस प्रकार हम चारण-काल अथवा वीर-गाथा काल के साहित्य तक आ जाते हैं। इस काल के प्रमुख कवि नरपति नाल्ह, चंद और जगनिक तीनों ही "संदिग्ध" कवि हैं। शुक्ल जी ने इस काव्य को "देशभाषा काव्य" कहा है, क्योंकि सिद्ध और जैन कवियों की रचनाएँ "अपभ्रंश-मिश्रित" बोलचाल की भाषा में लिखी गई थीं। कुछ विद्वान अपभ्रंश के इस मिश्रण के कारण उक्त कवियों को हिन्दी के कवि न मानकर अपभ्रंश के कवि मानते हैं। इसके विरुद्ध राहुल जी ने इन्हें हिन्दी के आदि-कवियों के रूप में ही स्वीकार किया है। अपभ्रंश और देशभाषा का काव्य वास्तव में एक ही धारा है और अपभ्रंश-मिश्रित काव्य हमें हिन्दी साहित्य के मूल स्रोत तक पहुँचा देता है। यदि कुछ विद्वान अपभ्रंश-काव्य को केवल हिन्दी काव्य की पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार करें, तो इससे कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

वीर-गाथा काव्य का काल शुक्ल जी के अनुसार संवत् १०५० से संवत् १३७५ तक है। इस समय देश में केन्द्रीय व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी, सामन्तों में परस्पर निरन्तर युद्ध हो रहे थे और बाहर से देश में आक्रमण-कारियों के टीडी दल लगातार आ रहे थे। काश्मीर, कन्नौज, मालवा, ग्वालियर, दिल्ली और अजमेर के शासक गृह-युद्ध की अग्नि में होम हो रहे थे और भारत के मठों, मन्दिरों और रजवाड़ों में संचित, अनन्त धन-राशि आक्रमणकारियों को आकर्षित कर रही थीं।

मठों और मन्दिरों की सम्पत्ति के संबंध में राहुल "हिन्दी काव्य-धारा" की भूमिका में लिखते हैं :—

"राजा अपने और अपने लग्गू-भग्गुओं पर कितनी सम्पत्ति स्वाहा करते थे, इसका थोड़ा सा अन्दाज़ा ऊपर के वर्णन से लग गया होगा। लेकिन समृद्ध भारत की सम्पत्ति के अपव्यय का लेखा इतने ही से समाप्त नहीं होता। पुरोहित और महंथ लोगों का भी ख़र्च राजसी ठाट के साथ होता था। उनके पास भी महल, दास, कमकर थे और उसी के अनुकूल उनका ख़र्च भी था।

"राजवशो का हर सौ-दो सौ साल में उच्छेद भी हो जाया करता था, लेकिन ये मदिर तो चिरकाल तक सुरक्षित निधि बने रहते थे। महमूद राजपूताने के रेगिस्तानों की ख़ाक छानते सोमनाथ में मन्दिर तोड़ने नहीं गया था। यह निश्चित है कि देश की सम्पत्ति का काफ़ी भाग ब्राह्मण, जैन, बौद्ध मठों-मन्दिरो में जाता था।" [१]

चारण-काल की रचनाएँ अधिकतर "नागर-अपभ्रश से प्रभावित" हिन्दी में हुई। इस कारण इस साहित्य को "डिंगल साहित्य" भी कहा गया है। [२] यह कवि "अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ किया करते थे"। [३]

वीर-काव्य का साहित्य हमें दो रूपों में मिलता है, प्रबन्ध काव्य के रूप में और आल्हा के समान गेय-काव्य के रूप मं। गेय-काव्य का रूप तो काल के प्रवाह के कारण अनिश्चित है ही, "रासो" के समान महाकाव्य भी प्रामाणिक रचना नहा माना जा सकता, क्योंकि बाद के जोड़े हुए अशों ने मूल को बुरी तरह दबा दिया है। रासो की सभी तिथियाँ और अनेक घटनाएँ इतिहास के विपरीत हैं और उसकी भाषा पर १६वीं शताब्दी की भाषा तक की छाप है। शुक्ल जी के अनुसार "पृथ्वीराज रासो" और "बीसल देव रासो" दोनों ही "सदिग्ध" रचनाएँ हैं।

वीर-गाथाओं में पहली प्रसिद्ध रचना दलपत विजय कृत "खुमान रासो" है। खुमान द्वितीय चित्तौड़ के अधिपति थे और उनका समय सवत् ८७०-६०० तक था। उन्हीं की प्रशसा में "खुमान रासो" लिखा गया था। इस ग्रन्थ की जो प्रतियाँ मिली हैं, उनका समय बहुत बाद का है। अतएव इसका पाठ अत्यन्त अशुद्ध और अप्रामाणिक है।

शुक्ल जी को "प्राकृत पिंगल-सूत्र" में शार्ङ्गधर कृत "हम्मीर रासो" के

---

१ "काव्य-धारा", भूमिका, पृष्ठ १५-१६

२ डा० रामकुमार वर्मा, इतिहास, पृष्ठ १६८

३ शुक्ल जी, इतिहास पृष्ठ ६

कुछ उद्धरण मिले थे।[१] यह छद बड़े सजीव और ओजपूर्ण हैं। इन्हें शुक्ल जी वीर-काव्य के प्रामाणिक छद मानते हैं। इन छंदों में हमें हम्मीर की वीरता का वर्णन मिलता है :—

"पअभर दरमरु धरणि तरणि-रह'धुल्लिअ झंपिअ।
कमठ-पिट्ठ टरपरिअ, मेरु मदिर खिर कंपिअ॥
कोहे चलिअ हम्मीर वीर गअजुह संजुत्ते।
किअउ कट्ठ, हा कद ! मुच्छि मेच्छिअ के पुत्ते॥

(चरणों के भार से पृथ्वी दलमला उठी। सूर्य का रथ धूल से ढक गया। कमठ की पीठ तड़फड़ा उठी, मेरु मदर की चोटियाँ कंपित हुई। गज-यूथ के साथ हम्मीर क्रुद्ध होकर चले। म्लेच्छों के पुत्र हा कष्ट! करके रो उठे और मूर्छित हो गए।)"[२]

वीर-गाथाओं में दूसरी रचना नरपति नाल्ह का "वीसल देव रासो" है। इसकी सबसे प्राचीन प्रति सवत् १६६६ की लिखी हुई है। इस कारण इसके पाठ के सबध में बड़ी कठिनाइयाँ हैं। "वीसल देव रासो" गेय और मौखिक काव्य था। शुक्ल जी "वीसलदेव रासो" को १०० पृष्ठों का "छोटा सा ग्रन्थ" बताते हैं और उसका रचना-काल सवत् १२१२ मानते हैं।[३] "रासो" मे शृगार रस की प्रधानता है। शुक्ल जी के अनुसार न तो इस ग्रन्थ में "वीर राजा की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य-पराक्रम का। शृगार रस की दृष्टि से विलास और रूठ कर विदेश जाने का (प्रोषितपतिका के वर्णन के लिए) मनमाना वर्णन है।"[४] यह सभव है कि शृगार-प्रधान स्थल बाद में कथा में जोड दिये गये हो, इस प्रकार "वीसलदेव रासो" रीति काव्य की परम्परा के अधिक समीप आ गया है।

---

[१] शुक्ल जी का इतिहास पृष्ठ २५
[२] " " " २६
[३] " " " ३४
[४] " " " ३५

किम्वदन्तियो से आच्छादित चन्द-कृत "पृथ्वीराज रासो" के सबंध में भी यही कठिनाइयाँ हैं। इतिहास से पग-पग पर "रासो" की कथा विमुख होती है। इसका पाठ भी अत्यन्त अशुद्ध और अप्रामाणिक है। "वीसलदेव रासो" के ही समान "पृथ्वीराज रासो" में भी वीर रस और शृगार रस का सम्मिश्रण है। "रासो" की भाषा में कहीं-कहीं सोलहवीं सदी तक की भाषा की मिलावट है। इतना तो निश्चित है ही कि इस ग्रन्थ का एक बहुत बड़ा अश बाद में जोड़ा गया है। डा० उदयनारायण तिवारी के अनुसार इधर "रासो" की कुछ पुरानी छोटी प्रतियाँ मिली हैं, जो बीकानेर की फ़ोर्ट लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। इन प्रतियों के आधार पर "रासो" की प्रामाणिकता उनके मत से सिद्ध हो जाती है।[1]

"रासो" के रचना-काल और उसकी प्रामाणिकता के सबध में मतभेद हो सकता है, किन्तु इसमें दो मत नहीं हैं कि "रासो" एक अमूल्य ग्रन्थ-रत्न है। उसके वर्णन विशद और ओजपूर्ण हैं और उसकी शैली में प्रवाह, वेग और शक्ति है। इसी आधार पर इतने लम्बे काल से चन्द बरदाई को हिन्दी का सर्वप्रथम महाकवि और "रासो" को हिन्दी का पहला महाकाव्य माना जाता रहा है।

अनेक विद्वान जिनमें हजारी प्रसाद द्विवेदी भी हैं, वीर-गाथाओं को बहुत बाद की रचनाएँ मानते हैं, और यही मत अब अधिक पुष्ट हो रहा है।

इसी सिलसिले में जगनिक-कृत "आल्हा" की चर्चा भी होनी चाहिए। तुलसी की रामायण के बाद जितना अधिक प्रभाव आल्हा का उत्तर भारत की जनता पर पड़ा है, उतना और किसी काव्य-ग्रन्थ का नहीं। आज भी हमारे गाँवों में असख्य जनता "आल्हा" का पाठ प्रेम से सुनती है। "आल्हा" का पाठ भी शुद्ध और प्रामाणिक नहीं है। उसकी परम्परा बहुत-कुछ पीढ़ी दर-पीढ़ी गायकों और श्रोताओं के माध्यम से चली आई है। फिर भी भाषा

---

[1] डा० उदयनारायण तिवारी, "वीर काव्य", पृष्ठ १३३-४

नहीं, तो प्राचीन "आल्हा" का प्राण-रस अवश्य ही आज के आल्हा-संस्करणों में सुरक्षित है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "जनता के कंठ में जगनिक के संगीत की वीरदर्पपूर्ण प्रतिध्वनि अनेक बल खाती हुई अब तक चली आ रही है। यह गाने के लिए रचा गया था इससे पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी रक्षा की ओर नहीं बढ़े, जनता ही के बीच इसकी गूँज बनी रही, पर यह गूँजमात्र है, मूल शब्द नहीं।"[1]

"आल्हा-खण्ड" में सामन्तों के परस्पर संघर्षों का सजीव और ओजपूर्ण वर्णन है। इस काव्य में उत्कृष्ट कोटि की वीरता, शौर्य और पराक्रम को प्रतिष्ठित किया गया है। "आल्हा" के पाठ से भारतीय जनता का स्वाभिमान निरन्तर जाग्रत हुआ है। चौहान वंश महोबे को नष्ट करना चाहता था, उसकी धन-संपत्ति और कुमारिकाओं तक को हर लेना चाहता था। कवि की वाणी वीरों को ललकारती है, "जिनके शत्रु उनके सामने जीवित बैठे हों, उनकी जननी को धिक्कार है।" आल्हा और ऊदल के व्यक्तित्वों में कवि ने उच्चतम कोटि का स्वाभिमान और पराक्रम आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है। इसीलिए "आल्हा-खण्ड" भारतीय आत्मा की इतनी प्रिय रचना बन सका। यह भी कहा जा सकता है कि आल्हा को उसके वर्तमान रूप में भारतीय जनता के अगणित प्रतिनिधि गायकों और श्रोताओं ने लिखा है, क्योंकि इसमें निरन्तर परिवर्द्धन और संशोधन होता रहा है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने मुक्त कंठ से राजपूताना के चारण-काव्य की प्रशंसा की है। आपने अपने उद्‌गार इस प्रकार प्रकट किये हैं :—[2]

"भक्ति साहित्य हमें प्रत्येक प्रान्त में मिलता है। सभी स्थानों के कवियों ने, अपने ढंग से राधा और कृष्ण के गीतों का गान किया है। परन्तु अपने रक्त से राजस्थान ने जिस साहित्य का निर्माण किया है, वह अद्वितीय है और उसका कारण भी है। राजपूतों के कवियों ने जीवन की कठोर वास्तविकताओं का स्वयं सामना करते हुए युद्ध के नक्कारों की ध्वनि के साथ

---

[1] शुक्ल जी, इतिहास पृष्ठ ५१।

[2] डा० उदय नारायण तिवारी, "वीर काव्य", पृष्ठ ७९-८०

स्वाभाविक काव्य-गान किया। राजस्थानी भाषा के प्रत्येक दोहे में जो वीरत्व की भावना और उमग हैं, वह राजस्थान की मौलिक निधि है और समस्त भारतवर्ष के गौरव का विषय है। वह स्वाभाविक, सच्ची और प्रकृत है। मैंने कई बार सुना था कि चारण अपने काव्य से वीर योद्धाओं को प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया करते थे। आज मैंने उस सदियों से पुरानी कविता का स्वय अनुभव किया। उसमें आज भी बल और ओज है।"

वीर-काव्य के सबध में हमें एक बात और कहनी है। इस काल में साहित्य राजनीति और इतिहास के बहुत समीप आ गया था। इसे डा० रामकुमार वर्मा ने भी अपने इतिहास मे स्वीकार किया है।[१] वास्तव में राजनीति और इतिहास ही इस युग के काव्य का विषय थे।

४

आदिकाल के हिन्दी काव्य मे दो प्रमुख धाराएँ थीं, एक धार्मिक और आध्यात्मिक काव्य की, दूसरी वीर-गाथाओं की। पहली धारा के कवि भारतीय जनता के प्रतिनिधि थे और उसी के जीवन के अनुभवों की प्रतिक्रिया और छाप हमें उनके काव्य में मिलती है; दूसरी धारा चारण-कवियों की थी, जो सामन्ती जीवन को अपने काव्य में व्यक्त कर रहे थे, उनके काव्य में हम सामन्तों के रास-विलास और सघर्षों का वर्णन पाते हैं। सिद्ध और जैन कवियों की परम्परा आगे चल कर सन्त-काव्य मे विकसित और प्रस्फुटित हुई, इसी प्रकार वीर काव्य की धारा रीतिकाल के साहित्य से सबद्ध होती है। रीतिकालीन कविता मे वीर-काव्य की परम्परा का क्षय और ह्रास हुआ, यह भी स्पष्ट है। वीरकाल की प्रमुख रचनाएँ स्वस्थ और सबल हैं, और यदि "रासो" के मूल आधार को हम प्रामाणिक मानें, तो इस साहित्य ने हिन्दी को उसका पहला महाकाव्य प्रदान किया, यह भी हमें मानना होगा।

इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों की चर्चा करते हुए राहुल "काव्य-धारा" की भूमिका में लिखते हैं,—

[१] डा० वर्मा, इतिहास, पृष्ठ २१६

"तत्कालीन कविताओं में हम तीन बातो की छाप मिलती है। रहस्यवाद या आध्यात्मिक भूल-भुलैया, निराशावाद और युद्धवाद या वीर रस। ये तीनों ही काव्य-भावनाएँ उस समय के शासक-समाज की आवश्यकता के लिए बिल्कुल उपयुक्त थीं। उस समय के सामन्त बच्चे को तलवार का चरणामृत दिखावटी नहीं पिलाया जाता था, बल्कि दरअसल उसे बचपन से ही मरने-मारने की शिक्षा दी जाती थी। मौत से खेल करने के लिए वह हर वक्त तैयार रहता था। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदियों के कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं की बड़ी-बड़ी वीरताओं का वर्णन किया, लेकिन वह अधिकांश थोथी चापलूसी है।. ."[1]

इन दो विशिष्ट धाराओं से अलग भी हिन्दी साहित्य के इस काल में कुछ महान् व्यक्तित्व प्रकट हुए थे। यह थे हिन्दी के सर्वप्रथम मुस्लिम कवि अब्दुर्रहमान, बब्बर, अमीर ख़ुसरो और मैथिल कोकिल, विद्यापति।

अब्दुर्रहमान का काल १०१० ई० है। वे मुल्तान-निवासी जुलाहे थे। उन्होंने सरल और मीठी भाषा में काव्य रचना की। राहुल जी कहते हैं, "कवि की वाणी ख़ूब मँजी हुई है। मधुर शब्दों के चुनाव तथा सरल और प्रवाहयुक्त भाषा लिखने में अब्दुर्रहमान ने बड़ी सफलता प्राप्त की है।"[2] अब्दुर्रहमान ने विशेष रूप से शृंगार रस की कविता की है। प्रोषितपतिका और ऋतुओं के वर्णन में उन्होंने विशेष विदग्धता प्राप्त की है। एक उदाहरण लें:—

"केशमुक्त मुख जँभाए अरु अग मोड़ई।
विरहानले सतपिय, श्वसै दर्घकर-शाख तोड़ई॥
इमि मुग्धा विलयती महिहिं चरणोहिं छुवन्ती॥
अर्धोद्विग्ना सा पथिक पथे जोयउ चलतो॥
तहिं पथिकहिं पेखिया प्रियहिं उत्कटितिका,
मथर-गति सरलाद्दय उत्तावलि चलिया।

---

[1] "काव्य-धारा", भूमिका, पृष्ठ २८-९
[2] ,, ,, ,, ५३-४

तिमि मनहर चल्लन्ती चचल रमणमरी,
छुटी खिसकि रसनावलि, किंकिणि-रव पसरी ।।"[1]

बब्बर भी अब्दुर्रहमान के समकालीन थे। यह त्रिपुरी के निवासी थे और कर्ण कलचूरी (१०४०-७० ई०) के दरबारी कवि थे। इन्होंने गरीबी के जीवन, सुखी जीवन आदि के फुटकर छंद लिखे हैं और नारी के लक्षणों और ऋतुओं आदि पर काव्य-रचना की है। गरीबी के जीवन का वर्णन बब्बर इस प्रकार करते हैं :—

"शीत वृष्टी कीजिय, जीवा लीजिय, बाला-बूढा कपता।
वह पछुआँ वाता, लागे कायहॅ, सर्वा दिशा झॉपता।
यदि जाड़ा रूपै, चित्ता छासै, पेटे अग्नी थप्पीया।
कर-पादा सहरि, कीजै भीतरि, आपा अप्पी लुक्कीया ।।"[2]

अमीर ख़ुसरो का समय सवत् १३४० था। उन्होंने ठेठ खड़ी बोल-चाल की भाषा में पहेलियाँ और मुकरियाँ लिखीं जो कि बहुत लोकप्रिय हुईं। अमीर ख़ुसरो ने ब्रजभाषा में भी गीत और दोहे लिखे, परन्तु उनका विशेष महत्त्व यही है कि वह खड़ी बोली के पहले कवि थे और उनकी भाषा आज की बोलचाल की हिन्दी से बहुत भिन्न नहीं है। एक उदाहरण लीजिए :—

"एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पर औंधा धरा।।
चारों ओर वह थाली फिरे। मोती उससे एक न गिरे।। (आकाश)"
अथवा "एक नार ने अचरज किया। सॉप मारि पिंजड़े में दिया।
जों जों सॉप ताल को खाए। सूखे ताल सॉप मरि जाए।। दीया"

आजकल विद्वानों की यह राय हो चली है कि अमीर ख़ुसरों की काव्य-भाषा का यह रूप भी प्रामाणिक नहीं है और बाद में जोड़ा गया है।

विद्यापति का काल सवत् १४६० था। इन्होंने मागधी अथवा पूरबी अपभ्रंश और मैथिल में कविता की। विद्यापति हिन्दी के कवि

---

[1] "काव्य-धारा", पृष्ठ २६३
[2] ,, ,, ३१५

थे या नहीं, इस सबंध में दो मत हो सकते हैं, किन्तु हिन्दी साहित्य के अधिकतर इतिहासकार जिनमे शुक्ल जी भी शामिल हैं, विद्यापति के साहित्य का विवेचन अपने ग्रथों में करते आये हैं। विद्यापति की काव्य-प्रतिमा प्रौढ़ और असाधारण थी, यह सर्वमान्य है। उनके काव्य सगीत और मिठास सदियों से काव्य के प्रेमी को मुग्ध करता आ रहा है। विद्यापति जयदेव की परम्परा के कवि हैं। उनके काव्य में शृगार रस अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुका है। उससे एक पग आगे बढ़ कर ही वह रीतिकाल के अस्वस्थ, नग्न और अश्लील वर्णन तक पहुँच जाता है। विद्यापति के पदों की अनन्य मधुरिमा का एक उदाहरण हम लेते हैं:—

"सरस बसंत समय भल पावलि, दछिन पवन बह धीरे।
सपनहु रूप बचन इक भाखिय, मुख से दूरि करु चीरे॥
तोहर वदन सम चाँद होअथि नहिं, कैयो जतन बिह केला।
कै बेरि काटि बनावल नव कै, तैयो तुलित नहिं भेला॥"

५

भारतीय मध्य युग के इस प्रारम्भिक काल में, जब केन्द्रीय शासन-व्यवस्था टूटने के कारण सामन्तों में निरन्तर संघर्ष होने लगे थे और बाहरी आक्रमण लगातार हो रहे थे, हम हिन्दी साहित्य में उपरोक्त प्रवृत्तियाँ पाते हैं। भारतीय जनता का उत्पीड़न इस काल में और भी बढ़ गया था। सामान्य सामाजिक स्तर के अनेक कवि साधू और सिद्ध बन कर अलख जगाने लगे थे। उनके काव्य में हमें उनके जीवन के अनेक अतर्विरोध मिलते हैं; उसमें जीवन की व्यथा और वेदना की गहरी अभिव्यक्ति है, साथ ही किसी काल्पनिक आध्यात्मिक जगत में शरण लेने की प्रवृत्ति भी। अनेक दुराचार भी वज्रयानी भिक्षुओं के जीवन में घर बना चुके थे। इसकी छाप भी उनके काव्य पर है। किन्तु इन सब अन्तर्विरोधों के बावजूद भी निम्न सामाजिक स्तरों से निकले हुए इन कवियों की वाणी में जनवादी स्वर निरन्तर मुखरित हो उठा है, और सच्चे अर्थ में वे तुलसी, सूर और कबीर के समान सन्त-कवियों के अग्रणी हैं।

चारण कवि शासक वर्ग की जीवन-लीलाओ 'और सघर्षों का वर्णन अपने काव्य में करते हैं। इस वर्णन में वीरता, शौर्य और पराक्रम के आदर्शों को कवियों ने प्रतिष्ठित किया है। अनेक स्थलों पर यह वर्णन देश-रक्षा के उच्च सिद्धान्तों से सबधित हैं और अन्याय, दासता आदि के विरुद्ध सिर ऊँचा रखने की शिक्षा देते हैं।

हिन्दी साहित्य के जनवादी तत्त्वों की परम्परा का यही प्रारम्भिक रूप है। इस प्रारम्भिक रूप में भी यह परम्परा सशक्त और ओजमती है। आगे चल कर इसी परम्परा का अद्भुत् विकास और प्रस्फुटन हिन्दी साहित्य के इतिहास मे हुआ।

परिशिष्ट २

प्रेमचन्द : उपन्यासकार

उपन्यास आधुनिक भारतीय साहित्य का एक तरुण रूप है। अभी वह अपने जीवन के सौ वर्ष भी पूरे नहीं कर पाया है, ऐसा कहते समय हम कादम्बरी के समान साहित्य को ध्यान में रखते हैं, किन्तु उपन्यास की श्रेणी मे उसे नहीं रखते। आधुनिक उपन्यास मानव-चरित्र को उसकी सपूर्णता और व्यापकता में देखता है; वह अनेक सूक्ष्म अनुभूतियाँ और बारीकियाँ मनुष्य के चरित्र मे दर्शाता है। हमारे पूर्व-पुरुष मानव-रूप के केवल दो ही रग देखते थे; सफेद और काला। कहानी को वे अधिक महत्त्व देते थे। विचित्र, असाधारण घटनाओ से वे अपना मनोरंजन करते थे। राजकुमार परी-देश को गया; शुक और सारिका से उसका सलाप हुआ; उड़ने वाले घोड़े पर बैठ कर वह व्योम में विहार करने लगा! इन कथाओं में हमें सामयिक जीवन की झलक भी मिलती थी—राजपुरुषो के उल्लास-विलास अथवा उनके प्रजा-प्रेम की, व्यवसायियो और यात्रियों के दुःसाहसपूर्ण कार्यों की जो धन-सग्रह के लिए दूर देशों को जाते थे और अकथ मुसीबतो का सामना करते थे। अभिशप्त दीन-हीन प्रजा-गण की झलक भी हम इन आख्यायिकाओं मे पाते हैं, जो अकथनीय संतोष और सहनशीलता से कठिनाइयों के पहाड़ ढोते थे। इन आख्यायिकाओ मे सदा ही एक नैतिक सकेत भी रहता था : दुर्जन अन्त मे ठोकर खाते हैं, सज्जन सदा पुरस्कार पाते हैं। इस कल्पना के पीछे एक गहरा तथ्य यह था कि सज्जनता अच्छी वस्तु है और धूर्तता बुरी। आज का उपन्यास यथार्थ का अधिक वास्तविक रूप अपनाता है। उसके अनुसार सज्जन की सदैव विजय नहीं होती; कभी-कभी शठ भी जीवन के पाँसे में बाज़ी मार ले जाते हैं। हम कह सकते हैं कि आधुनिक उपन्यास की विशेषता जीवन के प्रति एक अधिक यथार्थवादी

दृष्टि है। यह चरित्र के विकास और विस्तार में विशेष रूप से व्यक्त होती है। कथा को आधुनिक उपन्यास अपेक्षाकृत कम महत्त्व देता है। उसका लक्ष्य पाठक को जीवन के चित्र-विचित्रित रूप की झाँकी देना होता है। अपना लक्ष्य वह चरित्र की रेखाओं और कथा के रगों से पूरा करता है।

उपन्यास वास्तव में प्राचीन 'एपिक' काव्य का आधुनिक प्रतिरूप है। आधुनिक जीवन के अनुरूप ही उसके रूप में भी नवीनता और विशेषता रहती है। कहते हैं, आज का युग उपन्यास का युग है। यह भी कहा जाता कि जब कविता का ह्रास होता है, तभी उपन्यास का विकास होता है।

प्रेमचन्द आधुनिक भारत के तीन महान् उपन्यासकारों में से एक थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस त्रिमूर्ति के अन्य अश रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरद्चन्द्र चटोपाध्याय थे। इन तीनों महान् कलाकारो ने आधुनिक भारत का मार्मिक और तलदर्शी चित्रण किया है। आधुनिक भारत नवजीवन के निर्माण में दो बड़ी बाधाओं का सामना कर रहा था—विदेशी शासन और भारत की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में सामन्ती कुप्रथाओं के अवशेष। भारतीय जीवन की इस अन्तर्व्यथा और उत्पीड़न का हृदय-द्राविक वर्णन हम इन कथाकारों की कला में पाते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरद्चन्द्र, दोनों ने बँगला कुलीन घर की नारी का चित्रण अपनी कथाओं में किया है। रवीन्द्रनाथ ने मृदु व्यथा से, कल्पना और गहरी अनुभूति से, और शरतचन्द्र ने व्यग से, आक्रोश से भारतीय नारी के जीवन का कटु यथार्थ अपनी कला में अकित किया है।

रवीन्द्रनाथ की कल्पना और सौन्दर्यानुभूति अपूर्व है। उन्होंने आधुनिक भारत का जो चित्र अपनी कला में अकित किया है, वह व्यापक और विराट् है, साथ ही उसमें कोमल, सूक्ष्म अनुभूति और गहरी भावना भी है। शरत्चन्द्र ने मध्य वर्ग के गृहस्थ-जीवन की विडम्बनाओं और टूटते हुए सामन्ती घरानों का अकन अपनी कला में किया है। साथ ही विदेशियों के शासन के विरोध में तीव्र होता हुआ सघर्ष भी उनकी कला में प्रकट हुआ है।

प्रेमचन्द ने भारतीय ग्राम-जीवन और विशेष रूप से किसानों के जीवन-संघर्ष के चित्रण को अपनी कला का ध्येय बनाया। इस जीवन का इतना कुशल चित्रकार भारतीय कला में दूसरा नहीं है। इन संघर्षों को प्रेमचन्द ने अनेक मर्मस्पर्शी, महान् पात्रों और आकर्षक, हृदयग्राही कथाओं में मूर्त किया है। प्रेमचन्द इस जीवन की गहराइयों को जानते थे; इसकी अन्तर्व्यथा और क्रूर वास्तविकता उनकी कला के रोम-रोम में प्रकट हुई है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में जिस यथार्थ का अंकन हम पाते हैं, वह अकथनीय, कटु सत्य है : छोटे वेतन का शिकार शिक्षक, बड़े घर की बेटी, आमदनी और व्यय में कशमकश, अन्त में दालमण्डी का कलुषित जीवन; जमींदारों का टूटता कुल, किसानों का मुक्ति के लिए संघर्ष, स्वाधीनता के पथ पर बढ़ती हुई जनता, अनेक बलिदान; गाँव में पूँजीशाही का शिकजा, ग़रीब जनता के घर-द्वार की पूर्णाहुति; विद्रोह और विजय। यह प्रेमचन्द के संगीत की टेक है; उनकी कला की यही विषय-वस्तु है। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' की कथा-वस्तु अन्य अनेक रूपों में, 'ग़बन', कर्मभूमि' और 'गोदान' में, 'प्रतिज्ञा', 'निर्मला' और 'कायाकल्प' में हमें मिलती है। किसानों के संघर्ष, मध्य-वर्ग के जीवन के संघर्ष हमें इस कला में सर्वत्र ही प्रतिबिम्बित मिलते हैं। प्रथम काल के उपन्यासों में यह भावना भी थी कि अपनी सहनशीलता और पीड़ा से मनुष्य दूसरे का हृदय-परिवर्तन कर सकता है और आश्रम बसा कर एक हद तक जीवन की विडम्बनाओं को दूर कर सकता है। प्रेमचन्द औद्योगिक विकास के विरोध में भी खड़े थे; वे सरल, निश्छल जीवन की कल्पना करते थे, आदिम समाज के स्वर्ण-युग को वापस लाना चाहते थे। प्रेमचन्द का यह 'यूटोपियन' स्वप्न उनके जीवन के अन्तिम काल तक टूट चुका था, यह 'गोदान', 'क़फ़न' और 'मंगलसूत्र' जैसी उनकी अन्तिम रचनाओं से स्पष्ट है। इन रचनाओं में प्रेमचन्द की कला का यथार्थवादी रंग और भी गहरा हो गया है।

प्रेमचन्द ने अपने इस जीवन-अनुभव को अन्यतम कला-रूप दिया है। उनके उपन्यास इतने लोकप्रिय हैं, क्योंकि भारतीय जीवन की निहित अन्त-

व्यथा को उन्होंने अतिशय तीव्रता से व्यक्त किया है, किन्तु इसका कारण यह भी है कि प्रेमचन्द के उपन्यास सर्वप्रथम कथा हैं—उपन्यास हैं। आजकल अनेक तथाकथित उपन्यास कथा-भाग से सर्वथा शून्य रहते हैं। उन्हें हम मनोवैज्ञानिक निबन्ध अथवा गद्य-काव्य की कोटि में अधिक आसानी से रख सकते हैं। यह नूतनता और विकास के नाम पर होता है! जिस प्रकार टी० एस० इलियट की अँग्रेज़ी कविता क्लासिकल परम्परा मे सकट के लक्षण प्रकट करती है, उसी प्रकार उपन्यास की परम्परा में यह क्षय के लक्षण हैं।

प्रेमचन्द के उपन्यासा मे कथा का अश सबल रहा है। पाठक इसे कृतज्ञता के भाव से ग्रहण करता है। उपन्यास से हम कथा के अतिरिक्त और भी बहुत-कुछ माँगते हैं। हम उससे जीते-जागते पात्र और उन्नायक जीवन-दर्शन की अपेक्षा भी रखते हैं, किन्तु कथा चीनी के खोल के समान है, जिसमे ढक कर कथाकार हमें उन्नत बनाने वाला जीवन-अनुभव देता है।

प्रेमचन्द उत्कृष्ट कथाकार थे। उनके कथानक की गति सहज-स्वाभाविक और सफल होती है। उनकी कथा पाठक के मन को नाग-पाश में बाँध लेती है, जिससे कथा के अन्त तक मुक्ति सभव नहीं! बचपन में प्रेमचन्द ने पुराने क़िस्से-कहानी कठस्थ किये थे, इसी कारण उनकी कथा-कारिता का गुण ऐसा चमक गया था।

चाहे हम 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'गबन' और 'गोदान' को लें, चाहे 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' को, सर्वत्र ही कथानक पर हम प्रेमचन्द का एक-छत्र अधिकार पाते हैं। छोटी-छोटी घटनाओं को लेकर प्रेमचन्द ने कथानक का विकास किया है। यह मानव जीवन का ही सहज स्वाभाविक क्रम है। यदि प्रेमचन्द के कथानक में कोई दोष है, तो यही कि कभी-कभी वह, जैसे 'रगभूमि' और 'कायाकल्प' में, अधिक घटना-भार से दब जाता है।

किसी भी उपन्यासकार के महत्त्व का माप उसके पात्र होते हैं। वे कितने स्वाभाविक, सजीव, मर्मस्पर्शी हैं, इससे उसकी सृजनशीलता को हम आँकते हैं। प्रेमचन्द ने अगणित पात्रों मे जीवन फूँका है, उनमें अनेक अमर पात्र हैं। वे विश्व-साहित्य की विभूति हैं। प्रेमचन्द के पात्र मनुष्य

का वास्तविक किन्तु उन्नायक रूप दर्शाते हैं। उनके सपर्क मे आकर पाठक अपना चरित्र ऊँचा बनाता है।

डिकिन्स की कला पर दृष्टिपात करते हुए, चैस्टरटन कहते हैं, "आजकल उपन्यासकार डिकिन्स की तरह पात्रों की सृष्टि करना नहीं जानते।" हम कहें कि आजकल अनेक प्रतिष्ठित उपन्यासकार केवल एक पात्र का निर्माण करना जानते हैं, जो वे स्वय ही हैं। यह भी कहा जा सकता है कि वे केवल एक ही उपन्यास लिखना जानते हैं, और उसी की फिर-फिर पुनरावृत्ति करते हैं। भुवन, शेखर का ही दूसरा रूप है, 'गर्म राख' का नायक चेतन का प्रतिरूप है, और 'सुखदा' और 'विवर्त' 'सुनीता' की ही दूसरी और तीसरी आवृत्ति हैं।

प्रेमचन्द के पात्रों को भूलना असभव है। सुमन, प्रेमशकर, विनय, सोफ़ी, होरी आदि सभी हमारे जीवन-सगी बन गये हैं। प्रेमचन्द के पात्र हमारे निजी मित्र बन गये हैं। हम अपनी प्रत्येक जीवन-क्रिया में उनकी याद करते हैं। इससे बढ़कर किसी लेखक की प्रसशा करना असमव है। टॉल्सटॉय ने डिकिन्स के सम्बन्ध में यही कहा था : "डिकिन्स के पात्र मेरे निजी मित्र हैं!"

प्रेमचन्द की कला का एक आकर्षक पहलू उनकी भाषा की सरल, स्वाभाविक गति और सहज माधुरी है। उनके और पाठक के बीच भाषा व्यवधान नहीं बनती, वरन् वह ऐसा माध्यम है, जिसका अन्तर हमे ध्यान भी नहीं आता। चौपाल में अथवा अलाव के चतुर्दिक् बैठे किसान बातें करते हैं, अपने दुःख-दर्द की राम कहानी कहते हैं। इन दृश्यों का वास्तविक वर्णन प्रेमचन्द ने किया है। यह वार्त्ता मानो जीवन का ही तराशा हुआ एक टुकड़ा है। प्रेमचन्द का हिन्दी और उर्दू पर समान रूप से अधिकार था। उनकी भाषा की सहज स्वाभाविकता और माधुरी का यह एक विशेष कारण है।

प्रेमचन्द में अनन्त सृजन-प्रतिमा थी। प्रेमचन्द का एक अलग ही ससार है, जिसके वे स्वयं विश्वकर्मा हैं। गाँव, शहर, खेत, खलिहान,

गलियारे, सेठ, जमींदार, कारिन्दे, किसान, मजदूर, बूढे, जवान, नर-नारी, इन सभी का एक व्यापक चित्र हमें प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है। इस जीवन की सहज गति हम इस साहित्य मे देखते हैं। यह आधुनिक भारत की ६० प्रतिशत् मानवता का जीवन है, और प्रेमचन्द को इस जीवन का अन्तरग परिचय था।

प्रेमचन्द शुद्ध कलावादी न थे। वह भारतीय साहित्य के महान् मानवतावादी कलाकार थे। उनकी लेखनी का ध्येय मानव-जीवन को ऊँचा उठाना था। उन्होंने भारतीय समाज की दुर्बलताओं का निर्भयता से अपनी कला में चित्रण किया। कितना दयनीय यह प्रेमचन्द का भारत है! कितना यहाँ दम्भ, अनाचार और उत्पीडन है! किन्तु अन्याय के विरुद्ध सघर्ष करने की क्षमता मानव में है, और प्रेमचन्द की जनता सिर उठाकर चलने लगी है। यह हम प्रेमचन्द के 'रगभूमि,' 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में स्पष्ट ही देखते हैं।

शुद्ध कलावादी प्रेमचन्द के मानवतावाद को आसानी से नही पचा पाते। प्रेमचन्द का महत्त्व घटाना आज आसान नहीं है, इसलिए वे सदिग्ध शैली में उन पर आघात करते हैं, "प्रेमचन्द बड़े थे, किन्तु हमें उनकी परिपाटी में ही फँस कर नही रहना!" प्रेमचन्द की परम्परा का विकास आवश्यक है। नयी दिशाओं में फैलना भी आवश्यक है। किन्तु वास्तविकता यह है कि हिन्दी के नये कथाकार प्रेमचन्द से आगे नहीं बढ पाये हैं। यह दुर्भाग्य की बात है, किन्तु इसे अस्वीकार करना असभव है।

प्रेमचन्द के परवर्त्ती उपन्यासकारों ने जीवन के नये अश छुए। उन्होंने मध्य वर्ग के गार्हस्थ्य जीवन के चित्र अकित किये, उन्होंने मानव-चरित्र की सूक्ष्म अनुभूतियों और गुत्थियों को समझने और चित्रित करने का प्रयास किया, उनकी कला में शिल्प-सौंदर्य भी अधिक आया।

यह सब कुछ प्रशसनीय है। हिन्दी उपन्यास का इस प्रकार नये क्षेत्रों में विस्तार हुआ। किन्तु प्रेमचन्द की कला में 'एपिक' गुण था, जो उनके परवर्त्ती कथाकारों में हम नहीं पाते। प्रेमचन्द की सृजन-शक्ति का रहस्य

भारतीय जीवन से उनका अन्यतम परिचय था। उनकी-सी ही गहरी सवेदना से जब हम केवल अपने को ही नहीं, वरन् सपूर्ण मानवता को देख सकेंगे, तब हम अपनी क्षुद्रता पर विजय पा सकेंगे। प्रेमचन्द के समान विशाल हृदय, कलाकार की अपूर्व निधि है। यही उनकी कला की विविधता और विशालता का रहस्य है।

प्रेमचन्द की कला बरसाती नद के समान वेगशाली और बलवती है। इस विशाल नद से जो शाखाएँ और उपशाखाएँ फूट कर निकली हैं, वे अभी काफ़ी उथली और छिछली हैं। उनमें भी हम प्रेमचन्द की कला के समान ही वेग, रव और बल देखने की आकाक्षा रखते हैं।